मूल्य
२.५०

डी. पी. सिनहा द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली से प्रकाशित।
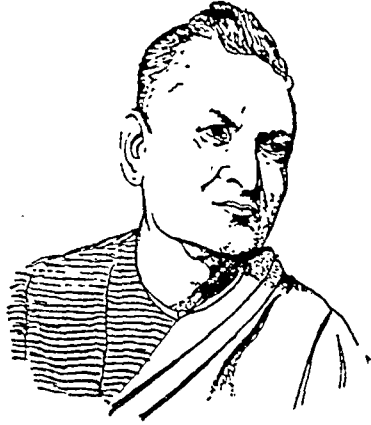
राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन और लेखक

कहानी की कहानी…

स्कूल के बाद कालेज, कालेज के बाद विश्वविद्यालय। आज तुम शायद स्कूल के ही विद्यार्थी हो। किन्तु किसी दिन विश्वविद्यालय के विद्यार्थी बनने की इच्छा तुममें जरूर होगी। विश्वविद्यालय के प्राध्यापक विश्वविद्यालय में ही पढ़े होते हैं। उनके नाम के आगे पी. एच्. डी., डी. एस्. सी. जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ जुड़ी रहती हैं।

लेकिन क्या तुमने किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में सुना है जो न किसी कालेज का विद्यार्थी रहा, न किसी विश्वविद्यालय का, जिसने मैट्रिक की परीक्षा भी पास नहीं की, फिर भी जो एक से अधिक विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक रहा ?

मेरा विश्वास है कि तुमने इस प्रकार का उदाहरण एकाध ही सुना होगा।

हमारे देश में कई विश्वविद्यालय हैं। इनमें एक पुराना और प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है: प्रयाग विश्व-

विद्यालय। विश्वविद्यालय में प्रत्येक विषय का एक विभाग होता है और प्रत्येक विभाग के लिए एक विद्वान व्यक्ति प्राध्यापक होता है।

घटना पुरानी है—लगभग २५ साल पहले की। प्रयाग विश्वविद्यालय के गणित विभाग में उस समय एक प्रसिद्ध गणितज्ञ गणितशास्त्र के प्राध्यापक थे। उनका नाम था : डा. बद्रीनाथ प्रसाद। डा. प्रसाद भारत के चोटी के गणितज्ञों में माने जाते थे, और उन्होंने अपनी गणितीय खोजों पर यूरोप के विश्वविद्यालयों से पी. एच्. डी. तथा डी. एस्. सी. जैसी ऊंची उपाधियाँ प्राप्त की थीं।

उन्हीं डा. प्रसाद का प्रयाग में घर।

एक दिन की वात है। उनके घर पर एक अतिथि ठहरे हुए थे। अतिथि थे, एक साधु; एक बौद्ध-साधु !

तुम सोचोगे : विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक के घर पर एक साधु अतिथि कैसे ? साधु महात्मा शायद वहुत वड़े ईश्वर-भक्त होंगे ?

नहीं; अतिथि साधु ईश्वर-भक्त नहीं थे। उस साधु का ईश्वर में तो विश्वास ही नहीं था। वे तो डा. प्रसाद के सम्माननीय अतिथि इसलिए थे कि वे एक 'विद्वान साधु' थे, देश-विदेश में उनकी कीर्ति फैल चुकी थी।

इन्हीं विद्वान साधु से मिलने के लिए एक दिन एक अन्य बौद्ध साधु डा. प्रसाद के घर पहुँचे। डा. प्रसाद के बच्चों ने नये आये साधु को घेर लिया और कहने लगे : "बाबा, आप भी हमको कोई कहानी सुनाइये।"

आगन्तुक साधु सोचने लगे—इन्हें कौन सी कहानी सुनायें !

अतिथि साधु ने पूछा—"क्या सोच रहे हैं आप ?"

"सोच रहा हूं कि इन्हें कौन सी कहानी सुनाऊं ?"—उत्तर मिला।

अतिथि साधु बोले : "बच्चों को सोच-सोच कर कहानी सुनाई तो भले सुनाई। हमारा तो इन्हें हर दिन तीन कहानियाँ सुनाने का नियम है। हम तो साथ-साथ कहानी बनाते जाते हैं, और सुनाते जाते हैं।"

तुमने भी बहुत-सी कहानियाँ सुनी होंगी, पढ़ी होंगी। भूत-वैतालों की कहानियाँ, राजकुमारों-राजकुमारियों की कहानियाँ, इतिहास की कहानियाँ। कहानियाँ सभी को अच्छी लगती हैं। और, यदि ऐसा कोई मिल जाय जो नित नई कहानियाँ सुनाता रहे तो फिर कहना ही क्या !

लेकिन जिन अतिथि बौद्ध-साधु की बात हम कर रहे हैं, उनके पास तो कहानियों का अक्षय भंडार था। और फिर, उन्हें बच्चों से बेहद प्यार था।

तुम सोचते होगे : काश ! हमें भी ऐसे साधु का सहवास मिलता ! हमें भी उनसे बढ़िया-बढ़िया कहानियाँ सुनने को मिलतीं !

आज वे बौद्ध साधु इस संसार में नहीं हैं। हाँ, उनका कृतित्व—उनकी डेढ़ सौ से भी अधिक कृतियां—जीवित हैं।

आज वे बौद्ध-साधु तुम्हें स्वयं कोई कहानी सुनाने के लिए जीवित नहीं हैं, तब भी उनकी जीवन कथा एक रोचक एवं शिक्षाप्रद कहानी है। इस कहानी को पढ़कर तुम जानोगे कि किस प्रकार उस बौद्ध साधु ने घर से भागकर, दुनिया भर के मुल्कों की सैर की। इसे पढ़कर तुम जानोगे कि किस प्रकार उन्होंने अपने देश की ही नहीं, दूसरे मुल्कों की भी नयी और पुरानी अनेक भाषाएँ सीखीं।

इस कहानी को पढ़कर तुम जानोगे कि किस प्रकार, बिना किसी कालेज या विश्वविद्यालय में पढ़े, वे स्वयं विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक बने और उनके ग्रन्थ विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने लगे।

क्या नाम था उन बौद्ध साधु का ? उनका नाम ? . . . . उनके कई नाम रहे हैं। लो, मैं तुम्हें क्रमशः बताऊंगा।

तो पहला नाम . . . .

पहला नाम

उत्तर-प्रदेश का आजमगढ़ जिला। इस जिले में एक-दूसरे से दस मील की दूरी पर दो गांव हैं—पन्दहा और कनैला। कनैला बालक के पिता का गांव है और पन्दहा बालक के नाना का। बालक का बचपन अधिकतर नाना के घर पर बीता। नाना, रामशरण पाठक, पल्टन में सिपाही रह चुके थे और कड़े अनुशासन को पसंद करते थे। उनका अपना कोई लड़का नहीं था, केवल एक लड़की थी; इसलिए वे अपनी लड़की के बेटे—अपने नाती—को बेहद प्यार करते थे।

बालक अभी पांच वर्ष का ही था कि नाना-नानी ने उसे स्कूल भेजने का फैसला किया। किसी के यह कहने पर कि उमर कम है, क्या पढ़ेगा, नाना ने जवाब दिया—"बैठना तो सीखेगा।"

पन्दहा से एक मील की दूरी पर 'रानी की सराय' में मदरसा था। वहां यह बालक अभी ढंग से बैठना सीख भी न पाया था कि मदरसा ही बंद हो गया!

वालक साल में एक दो सप्ताह के लिए पिता के गांव कनैला चला आता था। पिता का नाम था, गोवर्धन पांडे और मां का नाम कुलवन्ती। कुलवन्ती

पन्दहा में उस वालक का जन्मस्थान

अपने पिता की, वालक के नाना की, एकमात्र संतान थीं। वालक ने आगे चलकर वचपन की अपनी एक याद के वारे में लिखा :

"एक दिन मैं मां के साथ ननिहाल से कनैला जा रहा था। चलते समय आसमान ठीक था, किन्तु रास्ते में पानी बरसने लगा। मैं किसी की गोद में था। मेरे हाथ में सत्तू की पिण्डी थी। पानी से पिण्डी भीग गयी थी। किन्तु उस पिण्डी को मैंने बड़े यत्न से हाथ में दबा रखा था।"

एक साल बाद बालक पुनः रानी की सराय के मदरसे में पढ़ने जाने लगा। पहली बार उर्दू की पढ़ाई आरंभ हुई थी। अब इस बार आरम्भ हुई हिन्दी की पढ़ाई। बालक ने वड़े होने पर अपनी आरंभिक पढ़ाई के बारे में लिखा: "पढ़ने का काम मेरे लिए बिल्कुल मुश्किल नहीं था। वस्तुतः चार मास की पढ़ाई के लिए मेरे बारह मास यूं ही बरबाद किये जा रहे थे।"

असम्भव नहीं कि तुममें से भी कुछ विद्यार्थियों को अपनी पढ़ाई से संतोष न हो। तुम भी सोचते हो कि जब तुम्हें जूता पहनाया जाता है तो अच्छी तरह यह देख लिया जाता है कि वह तुम्हारे पांव में 'फिट' आता है कि नहीं। जब तुम्हारे लिये कपड़ा सिलाया जाता है या सिला-सिलाया खरीदा जाता है, तब भी यह देख लिया जाता है कि वह तुम्हारे बदन के ठीक

माप का है या नहीं। लेकिन यह स्कूल की पढ़ाई तुम्हें ठीक बैठे या न बैठे, तुम्हें पढ़नी ही पड़ती है! है न?

पढ़ाई का यह क्रम सचमुच बदलना चाहिये। लेकिन जब तक यह क्रम नहीं बदलता, तब तक तुम क्या करोगे?

तब तक जो पढ़ाया जाता है, उसे तो मजबूरी से पढ़ना ही पड़ेगा, लेकिन साथ ही चाहिये कि उस विषय को खूब मन लगाकर पढ़ो, जिसमें तुम्हारी अधिक रुचि हो।

उस बालक ने भी यही किया—और बाद में वह "महापंडित" के नाम से प्रसिद्ध हुआ!

तुम जानना चाहोगे : क्या नाम था उसका?

उसका नाम था केदारनाथ!

केदारनाथ का जन्म अपने ननिहाल-ग्राम पन्दहा में रविवार के दिन ९ अप्रैल १८९३ में हुआ था।

सैर कर दुनिया की, गाफिल

क्या तुम में से किसी ने कभी यह तुक-वंदी या वच्चों की कविता स्वयं गायी है या किसी दूसरे को गाते सुना है :

"पढ़ोगे लिखोगे होगे खराब,
खेलोगे कूदोगे बनोगे नवाब।"

केदारनाथ पांडे ने पता नहीं यह कविता सुनी थी, या नहीं ? लेकिन इससे ही मेल खाती हुई एक दूसरी कविता जरूर सुनी थी—

"सैर कर दुनिया की गाफिल,
जिन्दगानी फिर कहां ?
जिन्दगानी गर रही तो
नौजवानी फिर कहां ?"

केदारनाथ ने इस कविता को अपना गुरुमंत्र माना। वह तेरह साल का हो गया था और दर्जा ६ की परीक्षा दे चुका था। उसके दिल में दुनिया को देखने की वेहद लालसा थी। और फिर, अपने परिवार वालों से उसे एक वहुत वड़ी शिकायत थी।

केदारनाथ की आयु अभी ११ साल की ही थी, वह अभी दूसरा दर्जा ही पास कर पाया था, तभी उसका विवाह कर दिया गया।

आज तुम सर्वत्र देखते हो कि अधिकतर १८-२० साल के हो जाने पर ही, समझदार हो जाने पर ही, लड़कों के विवाह होते हैं। लेकिन आज से ५० साल पहले तक हमारे देश में अबोध बालक-बालिकाओं के विवाह कर देने का रिवाज था। केदारनाथ भी इस रिवाज का शिकार हुआ। जब वह यह भी नहीं जानता था कि "विवाह" किस चिड़िया का नाम है, तभी उसका विवाह कर दिया गया। बड़े होकर उसने अपने इस "विवाह" के बारे में लिखा :

"उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था में मेरे लिए यह 'तमाशा' था। चार साल बाद ही, जब मेरी आयु १५ वर्ष की हुई, तभी मैं इस 'तमाशे' को शक की नजर से देखने लग गया था। १९०९, अर्थात् एक साल बाद ही से मैंने इस बन्धन से निकल भागने के लिए घर को छोड़ देने का संकल्प और प्रयत्न करना शुरू किया। एक साल और बीतते-बीतते तो मैंने साफ तौर से और निश्चित रूप से यह मानना और कहना शुरू कर दिया कि मेरा विवाह हुआ ही नहीं।"

जब किसी बालक के माता-पिता अथवा दूसरे वड़े-वूढ़े उसका विवाह ऐसी अवस्था में कर दें जब वह इसके योग्य न हुआ हो, या वह इसके लिए राजी न हो, तो क्या यह उसके साथ अन्याय नहीं होगा ? केदारनाथ पाण्डे ने भी इसे अपने ऊपर घरवालों का अन्याय ही समझा। वह अक्सर उन्हें सुना भी दिया करता—

"इस ११ वर्ष की अवोध अवस्था में ही मेरी जिन्दगी को वेचने का अधिकार तुम्हें किसने दिया है ?"

१९०९ के वाद केदारनाथ ने घर आना-जाना विलकुल वन्द कर दिया। चार साल वाद तो उसने एक प्रकार से घर से अपना सम्वन्ध ही तोड़ लिया।

और, इसके भी और चार साल वाद, अर्थात १९१७ में तो उसने यह भीष्म-प्रतिज्ञा ही कर डाली कि जब तक उसकी आयु पूरे पचास वर्ष की नहीं हो जायेगी, वह आजमगढ़ जिले की सीमा में पैर भी नहीं रखेगा !!

चलो कलकत्ता

यह बात ठीक ही थी कि केदारनाथ पांडे के मन में दुनिया देखने की इच्छा घर किये थी। लेकिन दुनिया देखने के लिये घर से निकलना हो, तो उसके लिए भी कुछ-न-कुछ बहाना चाहिये न ? सो एक बार ऐसा अवसर आ गया।

केदारनाथ १४ वर्ष के थे और अपने नाना के यहां रहते थे। मां और नानी का देहांत हो चुका था।

एक दिन की बात है। घर पर मक्खन को पिघलाकर घी बनाया गया था। पिघले हुए घी को बिल्ली के डर से एक उल्टी नांद के नीचे दबाना पड़ता था। घी को दबाते वक्त अंधेरे में केदारनाथ को मालूम नहीं हुआ कि मटकी कहां है। नांद का किनारा मटकी के ऊपर था। उस समय तो केदारनाथ को कुछ पता नहीं लगा, लेकिन दूसरे दिन देखा कि लगभग दो सेर घी—सारा का सारा—जमीन पर फैला पड़ा है।

उसे डर लगा कि इतना सारा घी जमीन पर फैला देने का दंड अवश्य मिलेगा। दंड से बचने के लिए

उसने घर से भाग जाने की ठानी। घर से बनारस, विन्ध्याचल आदि समीप की जगहों पर वह एकाध बार रेल से पहले हो भी आया था। इस बार वह कहीं दूर, काफी दूर, जाना चाहता था--इतनी दूर, जितनी दूर कलकत्ता।

किन्तु वहाँ तक रेल से जाने के लिये पास में पैसा भी तो होना चाहिए। भाग्य से बैल की बिक्री से आये बाईस रुपये उसके हाथ लग गये। वह इन्हीं को लेकर रानी की सराय स्टेशन की ओर चल पड़ा।

अपनी इस यात्रा के बारे में उसने स्वयं लिखा है:

"सूर्य ढल चुका था, जब कि मैं रेल में सवार हुआ। टिकट बनारस का लिया; क्योंकि वही रास्ता जाना-पहचाना था। वहीं से मुगलसराय और आगे विन्ध्याचल गया। मन में झिझक जरूर थी, लेकिन घर लौटना भी असंभव था। दो-दो कसूर सिर पर थे—दो-ढाई सेर घी खराब कर देने का कसूर और बाईस रुपये लेकर भाग जाने का कसूर। अन्त में हार-पछताकर यही तै करना पड़ा—चलो कलकत्ता।"

कलकत्ते में केदारनाथ पांडे को घर से भागे हुए अपने जैसे चार-पांच और भी तरूण मिले। सबकी एक मण्डली बन गई। इस मण्डली की याद केदारनाथ को बराबर बनी रही। इसके बारे में आगे उसने लिखा:

"हमने अपना साम्यवादी समाज कायम कर लिया था। यह भूल गये थे कि यह मेरा है, यह तेरा है। हर किसी के पास जो कुछ भी था, वह सबका था—सभी के साझे खर्च के लिए हमेशा हाजिर। हमने तै किया था कि किसी को भी नौकरी मिले, उससे जो भी आमदनी होगी, वह सबके लिए होगी। सबेरे हम मूरी-भूंजा ही खाकर रह जाते। दिन में एक बार शाम को दिन रहते ही रोटी बनाते-खाते। दिन भर दो-दो की जोड़ी बनाकर नौकरी की तलाश में घूमा करते।"

इन लड़कों में किसी को भी कभी कोई ढंग की नौकरी नहीं मिली। जो कुछ पढ़े-लिखे थे, वे उमर के कच्चे थे। वे मेहनत का काम न कर सकते थे। दो-एक जने जो उमर में बड़े थे, वे पढ़े-लिखे न थे।

कलकत्ता में केदारनाथ पांडे ने बहुत कुछ सीखा—डबल रोटी खानी सीखी, जो जाति का ब्राह्मण नहीं है उसके हाथ का बना भोजन खाना सीखा, यहाँ तक कि सिक्खों के तंदूर पर पकी हुई तंदूरी रोटी और 'महाप्रसाद'—मांस—भी खाना सीखा।

नाना को पता लग गया था। उन्होंने पत्र भेजा और घर लौटने के लिये पैसा भी।

केदारनाथ पांडे चार महीने कलकत्ता रहकर घर लौट आये।

लगाओ निशान

घर लौटकर काफी दिनों तक केदारनाथ इधर-उधर मटरगश्ती करते रहे। दुबारा स्कूल में दाखिल होने की उनकी इच्छा नहीं थी। इसी बीच उनकी 'राम प्यारी' बहन का देहांत हो गया, जिससे उन्हें बहुत प्यार था।

नाना के यहां सभी कुछ था, किन्तु कोई काम नहीं था। भला बिना काम के कोई रह सकता है? सो केदारनाथ ने फिर पढ़ाई शुरू कर दी। उन्होंने लिखा है:

"निजामाबाद में नाम लिखाने के बाद मेरे बहुत से साथी पास होकर चले गये थे। नये साथी थे, जिन्हें मैं पहचानता नहीं था। अध्यापक पुराने ही थे। मुझे अच्छा नहीं लगता था। ऐसा मालूम देता था कि जैसे मैं दौड़ में औरों से पीछे रह गया हूं।"

निजामाबाद के स्कूल में केदारनाथ पांडे ने दुबारा पढ़ाई भी की और परीक्षा भी दी; लेकिन उनका मन

निजामाबाद में नहीं था। मन था कलकत्ता में। इसलिए मौका लगते ही वह फिर कलकत्ता पहुंचे।

पिछली बार जब घर से भागे थे तो २२ रु. लेकर चम्पत हुए थे। इस बार भी काफी रुपये लिये, लेकिन कितने यह ठीक मालूम नहीं। रुपयों की एक माला भी साथ ली, जिसे बेच खाना उतना आसान नहीं था।

इस बार कलकत्ते में केदारनाथ बहुत दिनों तक बेकार नहीं रहे। उन्हें शीघ्र ही "मार्का-मैनी" का काम मिल गया।

तुम पूछोगे यह "मार्का-मैनी" क्या है?

"मार्का" कहते हैं निशान को और "मैन" कहते हैं आदमी को। कलकत्ता से रेल के डिब्बों में जो माल बाहर जाता था उस पर निशान लगाने पड़ते थे।

अपने-अपने माल पर निशान लगवानेवाले निशान लगानेवाले आदमी को 'खुश' रखना चाहते थे। उसे तनख्वाह तो मिलती ही थी; ऊपर से भी कुछ न कुछ मिल जाया करता था।

"मार्का-मैनी" करने वाले अकेले केदारनाथ पांडे ही नहीं थे, और भी बहुत से लोग थे। वे बहुत करके पैसा लेते थे। केदारनाथ तो पैसा कमाने कलकत्ता गये नहीं थे। वह तो गये थे, 'दुनिया देखने'।

केदारनाथ ने "मार्की-मैनी" का काम छोड़ दिया। थोड़े ही दिनों बाद उन्हें 'सुंघनी-साहु' वालों की कलकतिया दुकान पर चिट्ठी-पत्री तथा हिसाब लिखने का काम मिल गया। 'सुंघनी-साहु' की बड़ी दूकान वाराणसी में ही है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद 'सुंघनी-साहु' खानदान के ही थे।

केदारनाथ पांडे ने 'सुंघनी-साहु' के यहां मन लगाकर काम किया। हिन्दी में तो पत्र-व्यवहार करना ही पड़ता था। हिसाब-किताब भी रखते थे। साथ-साथ अंग्रेजी में लिखी किसी चिट्ठी की नकल करके भी लोगों के पास भेजनी पड़ती थी। इतनी ए. बी. सी. डी. अब तक केदारनाथ ने सीख ली थी।

खान-पान की गड़बड़ी से कलकत्ते रहते समय वह बहुत बीमार पड़ गये। काफी दिनों तक उन्हें अस्पताल में रहना पड़ा।

अच्छे होने पर वह फिर कनैला लौट आये। घर आने पर फिर कलकत्ता लौट आने के लिए उन्हें सुंघनी-साहू की कई चिट्ठियां आईं। लेकिन अब वे दूसरे रास्ते पर लुढ़के चले जा रहे थे; उन पर दूसरा ही भूत सवार हो रहा था!

तुम पूछोगे: कौन-सा भूत?

वैराग्य का भूत!

क्या करूं ? कहाँ जाऊं ?

मन की गहराई में क्या चल रहा है, कभी-कभी इसका पता अपने आप को भी नहीं लगता। लेकिन समय पाकर बीज फूटता है और अंकुर निकल ही आता है। वही धीरे-धीरे पौधा बन जाता है।

कनैला लौटने पर केदारनाथ पांडे ने वहीं रहनेवाले एक 'बाबाजी' की कुटिया पर आना-जाना शुरू कर दिया। यह बाबाजी किसी को बहुत उपदेश आदि न दे सकते थे, न देते थे; क्योंकि वह तो स्वयं 'बाबाजी' थे। हां, उन्हें 'सिद्ध-पुरुष' समझकर उनकी सेवा में रहने वाले हरिकरणदास जी जरूर थोड़ी हिन्दी पढ़े थे। उन्हें दूसरों को उपदेश देने की बीमारी भी थी।

उनके पास 'विचार-सागर' आदि वेदान्त के कुछ ग्रन्थ थे जिन्हें केदारनाथ ने भी पढ़ा। हरिकरणदास की संगत और 'विचार-सागर' जैसी पुस्तकों का केदारनाथ पर कुछ ऐसा असर पड़ा कि वह पढ़-लिखकर साधु होने की बात सोचने लगे।

उनके नाना चाहते थे कि वह अंग्रेजी आदि विषय पढ़ें। लेकिन जिसे साधु बनना हो, उसे अंग्रेजी से क्या लेना देना ? उस समय केदारनाथ केवल संस्कृत पढ़ना चाहते थे। आगे चलकर "महापंडित" बन जाने पर तो वह कहा करते थे—"जिसे मूर्ख बनाना हो, उसका सबसे अच्छा उपाय यही है कि उसे केवल 'संस्कृत' पढ़ा दो !"

संस्कृत पढ़ने के लिए केदारनाथ ने बनारस या अयोध्या जाने की सोची। किन्तु उन्हें डर था कि घर वालों को कहीं पता लग गया तो वे पढ़ाई में बाधा डालेंगे। इस बार वह साधु बनने के लिए ही घर से भागना चाहते थे।

जैसा मन होता है, वैसा ही आदमी का बाहरी व्यवहार हो जाता है। दिन में तीन बार स्नान करना, नाक पकड़कर तीन-तीन बार भगवान का ध्यान लगाना—यह केदारनाथ का नित्य-कर्म बन गया।

पहले दो बार घर से भागे थे तो पैसा लेकर। इस बार उन्होंने बिना पैसा-धेला लिये ही भाग निकलने की ठानी। सोचो न—वह 'साधु' ही क्या, जो घर के पैसे-धेले के भरोसे पर यात्रा करे ?

केदारनाथ अब १६ साल के हो गये थे।

घर से पैदल ही निकलकर चलते-चलते अयोध्या पहुँच गये। अयोध्या से मुरादाबाद। मुरादाबाद से हरिद्वार तक के टिकट की व्यवस्था हो गयी थी। हरिद्वार पहुँचकर 'गुरु' की खोज की। कोई ठीक गुरु नहीं मिला। लोगों को जब मालूम होता कि घर काशी के पास है, तो कहते कि सारी दुनिया तो पढ़ने के लिए काशी जाती है, और यह पढ़ने के लिए यहां आया है!

एक पंडितजी पढ़ाने का झूठा विश्वास दिला, कुछ दिन मुफ्त में आठ-आठ घंटे लिखाई का काम कराते रहे। जब केदारनाथ को असली बात समझ में आई तो वह वहां से चल दिये। सोचा, पढ़ाई नहीं होती, न सही; थोड़ी 'दुनिया की सैर' ही सही।

इस यात्रा में वह देवप्रयाग, टेहरी, जमनोत्री, गंगोत्री तक ही नहीं, 'केदारनाथ' तक हो आये!

तुम जानना चाहोगे कि पैसा पास में नहीं था, तो खाना कहाँ से खाते थे? सर्दी लगने पर कपड़े की जरूरत कैसे पूरी करते थे?

हर समाज और देश में ऐसे लोग हैं जो अतिथि या अपने घर आने वाले को खिलाना-पिलाना अपना कर्तव्य समझते हैं। और अपने देश में ऐसे लोग और

भी अधिक हैं जो खास तौर से 'साधुओं' को खिलाना-पिलाना, तथा उनकी जो भी सेवा बन पड़े करना, अपना 'धर्म' समझते हैं।

सभी 'घुमक्कड़ों' को ऐसे लोगों का कृतज्ञ होना चाहिए न ? उनका उपकार मानना चाहिए न ?

लेकिन बहुत से लोग तो उन्हें धन्यवाद तक न देकर इसे सिर्फ 'भगवान की कृपा' मानते हैं !

हमारे महापंडित इसे 'समाज की कृपा' मानते थे !

जब कोई ठीक से पढ़ाने-लिखानेवाला नहीं मिला तो केदारनाथ काशी वापिस लौट आये।

जमनोत्री, गंगोत्री की यात्रा में केदारनाथ के लंगोटिया यार यागेश भी उनके साथ थे। लौटते समय भी दोनों साथ थे। रास्ते में दोनों को मलेरिया ने बहुत हैरान किया। धीरे-धीरे करके बड़ी मुश्किल से काशी पहुँचे।

'वाराणसी' काशी का पुराना नाम था; इसीलिए अब हम फिर से काशी या बनारस को वाराणसी कहने लगे हैं। उस समय वहां चक्रपाणि नाम के एक ब्रह्मचारीजी रहा करते थे। उन्होंने केदारनाथ तथा यागेश को लगभग एक सप्ताह अपने पास रखकर

खिलाया-पिलाया। वे बड़े गोभक्त थे। उनके पास 'कृष्णा' गौ थी। या तो वह काले रंग की रही होगी या उसका नाम उन्होंने कृष्णा रख लिया होगा। वह सुबह उठते ही सबसे पहले कृष्णा को सानी-पानी करते और उसी समय उसका दूध भी दुह लेते। इसके बाद तुलसी-घाट पर स्नान करने चले जाते। वहां से लौटकर पूजा-पाठ करते। पूजा-पाठ की समाप्ति पर कृष्णा पर फूल चढ़ा और उसके अगले खुर पर अपना मस्तक रख उसकी पूजा करते। कभी कृष्णा खाने-पीने में या दूध देने में इधर-उधर करती, तो उसके दो डंडे भी जमा देते थे! मतलब यह कि ब्रह्मचारीजी कृष्णा की 'पूजा' केवल फूलों से ही नहीं किया करते थे, डण्डों से भी करते थे!!

कुछ दिन काशी रहकर दोनों मित्रों ने फिर अपने गांव लौट आना तै किया। केदारनाथ के मन में तो 'विद्वान साधु' बनने की धुन सवार थी।

अब घर के लोग इनके संस्कृत पढ़ने के इतने विरोधी नहीं थे। आठ वर्ष पहले घर से कुल तीन मील की दूरी पर बछवल के जिन फूफा जी के यहां 'सारस्वत-व्याकरण' पढ़ना शुरू किया था उन्हीं के यहां अब फिर 'लघुकौमुदी-व्याकरण' शुरू किया।

अंधविश्वास का अंत

केदारनाथ मरते-मरते वचे ।

सचमुच मरते-मरते वचे, और वह भी अपनी ही वेवकूफी के कारण !

किस्सा इस प्रकार है...

वनारस में रहते समय केदारनाथ 'किसी से कुछ और किसी से कुछ' करके पढ़ने लगे । मतलव यह कि पढ़ानेवाले 'गुरूजी' कई थे !

इसी समय की घटता है । केदारनाथ ने एक वार मंत्र-जाप के द्वारा किसी देवी-देवता को प्रसन्न करके उससे मन-मांगी मुराद पाने की कोशिश की । आठ दिनों तक लगातार जप करते रहे । जव नौवें दिन भी किसी देवी-देवता के 'दर्शन' नहीं हुए तो केदारनाथ इतने अधिक दुखी हुए कि उन्होंने अपनी जान देने के लिए एक जहरीले फल के वीज ही खा लिए !

वड़ी मुश्किल से मरते-मरते वचे ।

सचमुच यह देवी-देवताओं का झूठा विश्वास भी

किसी-किसी को पागल बना देता है और किसी-किसी की तो जान ही ले लेता है।

देवी-देवताओं में विश्वास कम हुआ तो केदारनाथ ने पढ़ाई की ओर अधिक ध्यान देना आरंभ किया। संस्कृत की पढ़ाई के साथ-साथ अंग्रेजी भी पढ़ने लगे और साथ-साथ हिन्दी के समाचारपत्र आदि भी।

अन्त में बाकायदा स्कूल में नाम लिखाकर पढ़ने की सोची। बनारस के ही दयानन्द हाई स्कूल में सातवें दर्जे में नाम लिखा लिया।

इस वक्त केदारनाथ पांडे की उम्र अठारह वर्ष की रही होगी।

भज बैरागी सीता-राम

तुम सोचते होगे—वे अपना खर्च कैसे चलाते थे ?

उस जमाने में काशी में संस्कृत पढ़नेवाले विद्यार्थियों को तो प्रायः कुछ नहीं खर्च करना पड़ता था। या तो कोई कच्चा सीधा देनेवाला मिल जाता था, या पका-पकाया भोजन करा देने वाला। पुस्तक-पोथी, कागज-पत्र खरीदने के लिए भी कोई न कोई पैसा दे ही देता था।

किन्तु अंग्रेजी स्कूल के विद्यार्थियों को यह सब सहूलियत नहीं थी। किसी के बहुत सिफारिश करने पर भी दयानन्द स्कूल में केदारनाथ की आधी ही फ़ीस माफ हुई।

इसी बीच छपरा जिले के परसा गांव के एक बड़े महन्त काशी आये। उनका रामोदार दास नाम का प्रिय शिष्य कुछ ही समय पहले मर गया था। उन्हें एक शिष्य की तलाश थी। उनकी ओर से जब केदार-

नाथ पाण्डे के सामने यह बात रखी गयी तो वह यही सोचकर उनके शिष्य बनने के लिए तैयार हो गये कि 'साधु' बन जाने से एक तो घर से पिण्ड छूट जायगा, दूसरे निश्चित होकर पढ़-लिख सकेंगे।

सन् १९१२ के सितम्बर महीने में केदारनाथ बनारस से छपरा पहुँचे। छपरा में स्वयं महन्तजी उन्हें लिवाने आये थे। छपरा से एकमा तक रेल की यात्रा थी। एकमा से कुल तीन मील की दूरी पर परसा का मठ था।

एकादशी के दिन केदारनाथ पांडे महन्तजी के 'शिष्य' बने। कान में जो मंत्र फूंका गया, सो तो फूंका ही गया। साथ में आग में तपाई हुई पीतल की मोहर से उनका बदन भी दागा गया! इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि केदारनाथ को यह पहले से मालूम होता कि साधु बनने जाने पर उन्हें अपने बदन पर आग में तपाई हुई पीतल की मोहर-छाप लगवानी पड़ेगी, तो वे कभी 'साधु' नहीं बनते!

साधु बन जाने पर केदारनाथ का नाम केदारनाथ नहीं रहा। अब उनका नाम था, रामउदार दास—रामोदार साधु!

बड़े-बड़े महन्तों को और उनके चेलों को मठ-मन्दिरों में किसी चीज की कमी नहीं रहती। रामो-

दार दास को तो सचमुच किसी चीज की कमी नहीं थी—कपड़े, बढ़िया खाना-पीना, पूरी आराम-तलबी !

परसा के इस मठ में आमदनी तो काफी थी, लेकिन खर्च की कोई ठीक व्यवस्था नहीं थी। रामोदार दास ने शुरू के तीन महीने मठ की व्यवस्था सुधारने में ही लगाये।

लेकिन वह यहां मठ की व्यवस्था सुधारने तो आये नहीं थे। वह तो आये थे—पढ़ने-लिखने की सुविधा पाने की आशा से। इसका यहां कुछ इंतजाम नहीं था।

एक दिन, पता नहीं कहां से मालूम करके, रामोदार दास (अर्थात् केदारनाथ) के पिताजी और फूफाजी परसा आ पहुँचे। महन्तजी को किसी न किसी तरह राजी करके, "केवल दस दिन के लिए लिये जा रहे हैं" कहकर, रामोदार को पकड़कर कनैला ले गये।

जो बात न परसा के महन्तजी की समझ में आयी और न इनके पिताजी तथा फूफाजी की, वह एक ही थी। दोनों समझते थे कि लड़के को अच्छा खिलायेंगे, पहनायेंगे, तो लड़का किसी दूसरी जगह जाने का नाम नहीं लेगा। दोनों में से कोई भी यह नहीं समझता था कि पढ़ने-लिखने की भूख भी एक बड़ी भूख होती

नाथ पाण्डे के सामने यह वात रखी गयी तो वह यही सोचकर उनके शिष्य वनने के लिए तैयार हो गये कि 'साधु' वन जाने से एक तो घर से पिण्ड छूट जायगा, दूसरे निश्चित होकर पढ़-लिख सकेंगे।

सन् १९१२ के सितम्वर महीने में केदारनाथ बनारस से छपरा पहुँचे। छपरा में स्वयं महन्तजी उन्हें लिवाने आये थे। छपरा से एकमा तक रेल की यात्रा थी। एकमा से कुल तीन मील की दूरी पर परसा का मठ था।

एकादशी के दिन केदारनाथ पांडे महन्तजी के 'शिष्य' बने। कान में जो मंत्र फूंका गया, सो तो फूंका ही गया। साथ में आग में तपाई हुई पीतल की मोहर से इनका बदन भी दागा गया! इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि केदारनाथ को यह पहले से मालूम होता कि साधु बनने जाने पर उन्हें अपने वदन पर आग में तपाई हुई पीतल की मोहर-छाप लगवानी पड़ेगी, तो वे कभी 'साधु' नहीं बनते!

साधु बन जाने पर केदारनाथ का नाम केदारनाथ नहीं रहा। अब उनका नाम था, रामउदार दास—रामोदार साधु!

बड़े-बड़े महन्तों को और उनके चेलों को मठ-मन्दिरों में किसी चीज की कमी नहीं रहती। रामो-

दार दास को तो सचमुच किसी चीज की कमी नहीं थी—कपड़े, बढ़िया खाना-पीना, पूरी आराम-तलबी !

परसा के इस मठ में आमदनी तो काफी थी, लेकिन खर्च की कोई ठीक व्यवस्था नहीं थी। रामोदार दास ने शुरू के तीन महीने मठ की व्यवस्था सुधारने में ही लगाये।

लेकिन वह यहां मठ की व्यवस्था सुधारने तो आये नहीं थे। वह तो आये थे—पढ़ने-लिखने की सुविधा पाने की आशा से। इसका यहां कुछ इंतजाम नहीं था।

एक दिन, पता नहीं कहां से मालूम करके, रामोदार दास (अर्थात् केदारनाथ) के पिताजी और फूफाजी परसा आ पहुँचे। महन्तजी को किसी न किसी तरह राजी करके, "केवल दस दिन के लिए लिये जा रहे हैं" कहकर, रामोदार को पकड़कर कनैला ले गये।

जो बात न परसा के महन्तजी की समझ में आयी और न इनके पिताजी तथा फूफाजी की, वह एक ही थी। दोनों समझते थे कि लड़के को अच्छा खिलायेंगे, पहनायेंगे, तो लड़का किसी दूसरी जगह जाने का नाम नहीं लेगा। दोनों में से कोई भी यह नहीं समझता था कि पढ़ने-लिखने की भूख भी एक बड़ी भूख होती

है। दुनिया को घूम फिर कर देखने की भूख भी एक बड़ी भूख होती है।

इसी 'भूख' को शान्त करने के लिए रामोदार दास पहले कनैला से भागकर परसा मठ चले आये और फिर यहां से भी मौका पाकर भाग खड़े हुए।

पहली बार घर से भागे थे तो उत्तर की ओर और कलकत्ता गये थे। इस बार भागे—दक्षिण की ओर!

रामोदार दास ने अपनी यात्रा का विचार किसी पर प्रकट नहीं किया। मठ में काम करनेवाले एक आदमी से केवल तीन रुपये लिये। सामान के नाम पर पास थीं—दो-एक संस्कृत पुस्तकें, दो धोतियां, दो लंगोटियां, एक गमछा और बिछाने के लिए एक मामूली-सा कपड़ा। हाजीपुर पहुँचने पर आठ आने का एक लोटा भी खरीद लेना जरूरी समझा गया।

जब सारी पूँजी कुल जमा ३ रुपये ही हो, तो टिकट खरीद-खरीद कर क्या यात्रा हो सकती थी? रेल में एक वकील साहब मिले। उन्होंने बड़े आग्रह से साथ-साथ चलने को कहा। तै हुआ—खाने-पीने की व्यवस्था वकील साहब करेंगे और रेल की सवारी बिना टिकट!

मद्रास में वकील साहब का साथ छूट गया। रामोदार दास को भी वकील साहब के साथ रेल के

डिब्बे में कैद होकर यात्रा करने की अपेक्षा अकेले पैदल यात्रा करना अच्छा लगा।

दक्षिण भारत में हिन्दुओं के जो पवित्र-स्थान हैं, वे सब 'दिव्य-देश' कहलाते हैं। रामोदार साधु को अधिक से अधिक 'दिव्य-देशों' की यात्रा करनी थी। वे वहुत-सी जगहों पर गये। तिरुमिशी के मठ में अधिक दिनों तक रहे। यहां उन्हें मठ का उत्तराधिकारी वनाने की भी कोशिश की गयी।

यह ठीक है कि रामोदार साधु का चित्त पढ़ने-लिखने की ओर ही अधिक था। दक्षिण के मठ में रह कर वह संस्कृत ही पढ़ते रहे। इतना होने पर भी 'वैरागी' साधु थे। वैरागी साधुओं का कहना है :

"पढ़ना-लिखना वम्हन का काम,
भज वैरागी सीता - राम।"

पढ़ाई की भूख

अब दक्षिण से उत्तर की ओर वापिस आना था। रामोदार साधु नासिक, उज्जैन से आगे बढ़कर अहमदावाद पहुंचे। गुजरात की यात्रा समाप्त करके रतलाम, भोपाल, वीना, कटनी, प्रयाग और बनारस होते हुए परसा वापिस लौट आये।

रामोदार दास को वापिस परसा लौट आने पर कुछ खुशी नहीं हुई। यहां उन्हें वेमतलब की झंझटों में उलझे रहना पड़ता था। उनके मन को तो दो ही बातें प्रसन्न करती थीं—या तो देश-दर्शन या पढ़ाई-लिखाई।

इसलिए थोड़े ही दिनों बाद रामोदार साधु फिर परसा से भाग निकले। इस बार भागने वालों में इनके पुराने साथी वरदराज भी थे। विना पैसे-कौड़ी के ये दोनों साधु अयोध्या जा पहुंचे।

यहां इन्होंने एक पाठशाला में 'वेदान्त' और 'वेद' पढ़ना शुरू किया। अयोध्या में ही रहकर रामोदार दास ने विशेष रूप से 'व्याख्यान' देने का अभ्यास बढ़ाया।

यूं तो अयोध्या वैरागी-वैष्णवों का गढ़ है। वैष्णव लोग मंदिरों में बकरे आदि पशुओं की बलि देने के विरोधी होते हैं। किन्तु वहीं अयोध्या और फैजाबाद के बीच देवकाली नाम का एक प्रसिद्ध देवस्थान है। वहां नवरात्र के दिनों में बकरों की बलि होती थी।

एक ब्रह्मचारी ने चाहा कि नवरात्र के समय उस मंदिर में बकरों की बलि न हुआ करे। रामोदार साधु और उनके कई दूसरे मित्रों ने इस काम में उस ब्रह्मचारी की सहायता करने का संकल्प किया। नवरात्र के अन्तिम दिन सभी मंदिर में पहुँचे।

वहां मार-पीट की नौबत आ गई। पण्डों ने इन साधुओं में से कुछ को पीटा। रामोदार दास बाल-बाल बचे। छीनां-झपटी में इनके हाथ की शीशम की छड़ी टूट गई। मामला पुलिस में जाकर शांत हुआ।

पिता जी आये और उन्हें पुनः घर वापिस ले गये।

केदारनाथ पांडे अर्थात् रामोदार दास साधु अब २१ साल के हो रहे थे। अब घरवालों को विश्वास था कि यह शांति से घर में बैठेगा। उन्हें क्या पता था कि उसके दिल में कैसी उथल-पुथल मची है।

रामोदार दास के सच्चे मित्र थे यागेश। दोनों

की सलाह हुई। इरादा पक्का हो गया। ज्योंही रामोदार दास के हाथ बीस-बाईस रुपये लगे, वह नौ-दो-ग्यारह हो गए, अर्थात् रेल में बैठकर प्रयाग चले आये। प्रयाग आने का खास कारण था—उस समय वहां हर छठे साल या हर बारहवें साल लगने वाला कुम्भ का मेला।

कुम्भ का मेला समाप्त हो जाने पर रामोदार दास ने सोचा कि अब यहीं रहकर खाने-पीने लायक कुछ कमा लिया जाय और पढ़ाई को जारी रखा जाय। वह इण्डियन-प्रेस के दफ्तर में पहुँचे। वहीं से 'सरस्वती' निकलती थी, जिसके बहुत दिनों से वह पाठक थे। वहां 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से भेंट नहीं हुई। उन्हें वहां मिले पं० लालजी राम शर्मा। शर्माजी ने बड़ी नम्रता से कहा—"यदि दो दिन पहले आये होते तो मैं प्रूफ-रीडरी में रख लेता। अफसोस है कि अब कोई जगह नहीं है।"

रामोदार दास तो पढ़ने-लिखने का खर्च चलाने के लिए ही चार पैसे कमाना चाहते थे, धन बटोरने के लिए नहीं। प्रयाग में रहते समय उन्हें पता चला कि आगरा में 'मुसाफिर विद्यालय' है, जहां पढ़ाई-लिखाई के साथ भोजन की व्यवस्था है। आगरे का टिकट खरीद लेने पर रामोदार के पास बचे थे कुल आठ आने।

अयोध्या में रहते समय रामोदार दास साधु ने स्वामी दयानन्द का लिखा हुआ 'सत्यार्थ-प्रकाश' पढ़ लिया था। उस समय उन्हें आर्य-समाज के बहुत से विचार पसंद थे। आगरे का यह 'मुसाफिर विद्यालय' प्रसिद्ध आर्य-समाजी धर्म-प्रचारक पंडित लेखराम "आर्य मुसाफिर" की स्मृति में ही खोला गया था।

केदारनाथ "विद्यार्थी" मिडिल तक की पढ़ाई कर ही चुके थे। संस्कृत खूब जानते ही थे। अंग्रेजी भी जरा-जरा सीख ली थी। वह भर्ती कर लिये गये। यहाँ रहकर उन्हें विशेष रूप से अरबी सीखनी थी।

इस "मुसाफिर विद्यालय" में रहते समय अपने मन से केदारनाथ ने अपने मन के समाचार-पत्रों तथा किताबों की खूब पढ़ाई की। आगरे में लगभग सवा साल रहे। प्रयाग से छपनेवाले अंग्रेजी दैनिक समाचार-पत्र "लीडर" को—चाहे वह थोड़ा समझ में आये और चाहे बहुत—प्रतिदिन घंटा-डेढ़-घंटा जरूर देखते थे। ऐसा करते-करते केदारनाथ विद्यार्थी का अंग्रेजी अभ्यास बढ़ गया।

रामोदार साधु अब पुनः अपने को केदारनाथ "विद्यार्थी" लिखने लगे।

१९१५ में केदारनाथ 'विद्यार्थी' के अपने लेख भी छपने लग गये थे। हिन्दी में उन्होंने सबसे पहले मेरठ से निकलने वाले "भास्कर" में लेख लिखे और उर्दू में आगरा से निकलने वाले "मुसाफिर आगरा" में।

तुम सोच ही सकते हो कि अपने छपे लेखों को देखकर केदारनाथ विद्यार्थी को कितनी खुशी हुई होगी।

प्यारे पुत्र केदारनाथ का वियोग उनके पिता के लिये बहुत दुःखद था। एक बार केदारनाथ उन्हें देखने के लिये घर आये। तब वे तीन-चार सप्ताह पिताजी के पास रहे।

"मुसाफिर विद्यालय" की पढ़ाई कुल दो वर्ष की थी। वह समाप्त हो गई तो अधिकारियों ने आर्य-समाज का काम करने के लिए कहा। केदारनाथ का उत्तर था—"आर्य-समाज का काम तो मैं करना ही चाहता हूं। लेकिन इतनी थोड़ी पढ़ाई लेकर क्या कर सकूंगा ?"

अधिक पढ़ने के लिए वे आगरा से लाहौर चले आये। वहां डी० ए० वी० कालेज के संस्कृत-विभाग में भर्ती हो गये। विशारद में नाम लिखा गया।

मैं घर के अयोग्य हूं....

उत्तर भारत में खूब गर्मी पड़ती है। छुट्टियों में सभी स्कूल-कालेज बंद हो जाते हैं तो लड़के अपने-अपने घर चले जाते हैं। केदारनाथ को तो घर जाना नहीं था। वे विरालसी, मुजफ्फरपुर और आगरा कुछ-कुछ दिन रहकर फिर लाहौर चले आये।

यहां मौलवी महेश प्रसाद ने, जिन्हें सब लोग 'भाई साहब' कहते थे, प्रस्ताव रखा कि समय आ गया है कि वैदिक-धर्म का प्रचार करनेवाले मिशनरी तैयार करने के लिए कोई ठोस कदम उठाया जाय। तै हुआ कि कोई विद्यालय आदि आरंभ करने से पहले घूम फिर कर यह अंदाजा लगाया जाय कि विद्यालय चलाने के लिए रुपया-पैसा आदि आवश्यक साधन जुटाये जा सकते हैं, या नहीं ?

उत्तर-प्रदेश के कई स्थानों से घूमते-घूमते केदारनाथ 'विद्यार्थी' लखनऊ पहुंचे। वहां के बौद्ध-विहार में उनकी महास्थविर बोधानन्दजी से भेंट हुई,

जिन्होंने उन्हें बौद्ध-साहित्य के बारे में कुछ जानकारी दी।

केदारनाथ 'विद्यार्थी' का स्वप्न था कि यदि वैदिक-धर्म के प्रचारार्थ कोई महाविद्यालय स्थापित हो तो वह नालंदा विश्वविद्यालय जैसा होना चाहिए।

तक्षशिला, विक्रमशिला, वल्लभी, नालंदा आदि हमारे देश के प्रसिद्ध प्राचीन महाविद्यालय थे। नालंदा विहार में प्राचीन राजगिरि के समीप एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। आज से एक हजार वर्ष पहले इसी विश्वविद्यालय से एक से एक बढ़कर कई विद्वान धर्म-प्रचारक बनकर तिब्बत, मंगोलिया, चीन आदि सुदूर देशों तक गये थे।

केदारनाथ 'विद्यार्थी' की आयु इस समय २३ साल की थी और वे अपने आपको "स्वामी दयानन्द के भिक्षु" मानने लगे थे।

जगह-जगह घूमते और व्याख्यान देते वह बनारस आये। वहां के आर्य-समाज में भी एक व्याख्यान हुआ। बनारस के लिए प्रस्थान करते समय उन्होंने अपने मित्र यागेश को एक पत्र लिख दिया था। अभी बनारस में ही थे कि देखते क्या हैं कि स्वयं यागेश और उनके छोटे भाई श्यामलाल वहां आ पहुंचे। दोनों के बहुत जोर देने पर केदारनाथ को फिर कनैला जाना पड़ा।

मौका पाकर फिर बनारस और बनारस से विन्ध्याचल की खोह में अहरौरा (मिर्जापुर) आ पहुंचे। उन्हें विश्वास था कि यहां उनके घरवाले उनका पता न पा सकेंगे। लेकिन देखते क्या हैं कि एक दिन स्वयं उनके पिताजी वहां आ पहुंचे। वे अपने पुत्र को कनैला ले जाने में सफल नहीं हुये तो उन्होंने भी कुछ समय तक वहीं रहने का निश्चय कर लिया। एक दिन उन्हें पता लगा कि केदारनाथ अहरौरा से भी निकल भागे हैं।

पिता का हृदय ठहरा! बेचारे नौ-दस मील भागे-भागे पैदल स्टेशन आये। गाड़ी लेट नहीं होती तो वे केदारनाथ को नहीं पाते। केदारनाथ से वे हैरान थे और केदारनाथ उनसे! जैसे ही उन्होंने केदारनाथ को प्लेटफार्म पर देखा, ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे—"मुझे क्यों मार रहे हो, मुझे भी अपने साथ ले चलो!"

केदारनाथ पिताजी को तो कहां ले जाते? उन्हीं के साथ वापस बनारस का टिकट लेना पड़ा। बनारस पहुंचकर और रास्ते भर उन्होंने अपने पिताजी को धीरे-धीरे समझाया:

"मैं कनैला के अयोग्य हूं। मैं आपके काम का नहीं रहा। ...अब जोर देने का भयंकर परिणाम होगा। आपको मेरे जीवन से हाथ धोना पड़ेगा।"

पिताजी सहम गये। वोले : "अव मैं तुम्हारे रास्ते की रुकावट नहीं वनूंगा। किन्तु साथ ही मैं भी कनैला न जाकर यहीं वनारस में ही अपना शेप जीवन विता दूंगा।"

पिता गोवर्धन पांडे ने अपने कथन का पहला आधा हिस्सा अक्षरशः पूरा किया। अव इसके वाद फिर कभी पिता-पुत्र की भेंट नहीं हुई !

केदारनाथ ने भी प्रतिज्ञा की कि अवसे पचास वर्ष की आयु पूरी होने तक वह आजमगढ़ जिले की सीमा में पैर नहीं रखेंगे !

केदारनाथ की प्रतिज्ञा भी पूरी हुई। "महापंडित" बन जाने पर उन्होंने अपनी प्रसिद्ध और पहली बड़ी पुस्तक "बुद्धचर्या" अपने स्वर्गीय पिताजी को ही समर्पित की है। शब्द ये हैं :

"मेरे गृह-त्याग से जिनके अवार्धक्य जीवन के अन्तिम वर्ष दुःखमय वन गये, उन्हीं सांकृत्य-सगोत्र, मलांव-पांडे, स्वर्गीय पिता श्री गोवर्धन की स्मृति में"।

भगवान बुद्ध का धर्म

इसी समय परसा के महन्तजी का तार मिला। आकर मठ की व्यवस्था में सहायक बनने का आग्रह था। केदारनाथ ने महन्तजी का आग्रह देख परसा हो आने का निश्चय कर लिया।

लेकिन वेश ? वहां जाने के लिए तो रामोदार साधु का वेश जरूरी था !

उसमें क्या लगता था ! रास्ते में कहीं से एक कंठी लेकर गले में बांध ली और सिर-दाढ़ी सफाचट !

परसा का काम समाप्त करके, वहां से चले आये और जबलपुर में 'वेद-मध्यमा' की परीक्षा दी। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुये।

१९१७ के अक्तूबर मास में रूस में क्रान्ति हुई थी। उसकी खबरें छन-छन कर भारत पहुंचती थीं। वैसी साम्यवादी सूचनाओं से रामोदार दास बहुत प्रभावित होते थे। उनके साम्यवादी विचार १९२३-२४ में "बाईसवीं सदी" के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुये।

रामोदार दास ने १९१९ में लाहौर से 'शास्त्री' की परीक्षा दी, किन्तु उत्तीर्ण नहीं हो पाये। इसके बाद उन्होंने काशी की 'न्याय-मध्यमा' और कलकत्ता की 'मीमांसा' परीक्षाएं भी दीं। पहली में नापास और दूसरी में प्रथम श्रेणी में पास।

लेकिन इसी समय रामोदार साधु में गहरे परिवर्तन हो रहे थे।

तुम पूछोगे कैसे परिवर्तन ?

रामोदार साधु के धार्मिक विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहे थे। जहां भी उन्हें 'भगवान बुद्ध की जीवनी' या कोई दूसरा बौद्ध-ग्रन्थ मिलता, वह उसे बड़े चाव से पढ़ते। वह ऊपर से वैष्णव साधु थे, भीतर से आर्य-समाजी, लेकिन अब एक ऐसी विचार-धारा की ओर आगे बढ़ रहे थे जो उन्हें इन दोनों से मुक्ति दिलानेवाली थी।

उन्होंने बौद्ध तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने का निश्चय कर लिया।

रामोदार दास लुम्बिनी गये। यहां सिद्धार्थ कुमार का जन्म हुआ था। अब लुम्बिनी नेपाल-राज्य की सीमा में है।

वह बुद्धगया गये। यहां सिद्धार्थ कुमार ने 'बुद्धत्व'

अथवा परमज्ञान प्राप्त किया था। बुद्धगया बिहार प्रांत में गया के नजदीक है।

वह सारनाथ गये। यहां भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया था। सारनाथ तो वाराणसी के समीप ही है।

वह कुशीनगर गये। यहां भगवान बुद्ध ने परि-निर्वाण प्राप्त किया था, अर्थात् अपना शरीर त्यागा था। कुशीनगर उत्तर-प्रदेश के देवरिया जिले में है।

इन स्थानों के अलावा रामोदार दास साधु ने नालंदा, राजगिरि, जेतवन आदि बौद्ध ऐतिहासिक स्थानों की भी यात्रा की। कुशीनगर की अपनी पहली यात्रा के बारे में उन्होंने लिखा है :

"उस भूमि के भीतर प्रवेश होते वक्त मेरा हृदय उस महान भारतीय की ओर खिचा हुआ था, जिसने अपनी भूमि का नाम संसार भर में फैला दिया। और सारे संसार के एक-तिहाई लोगों के लिए भारत को पुण्य भूमि बना दिया।"

गांधी की आंधी

क्या तुम्हारे मन में फिर वही प्रश्न नहीं उठा? इतनी यात्रा करने के लिए रामोदार साधु के पास पैसे कहां से आते थे?

लेकिन वे अब "अनपढ़ साधु" थोड़े ही थे, "विद्वान महात्मा" थे। कहावत तो तुमने सुनी ही होगी कि राजा की पूजा तो अपने देश में ही होती है, किन्तु विद्वान सर्वत्र पूजा जाता है।

जहां भी जाते थे लोग "विद्वान महात्मा" का आदर करते थे। खाने-पीने का इंतजाम कर देते थे और यदि रेल से यात्रा करनी हो तो टिकट भी ले देते थे।

किन्तु रामोदार साधु को रेल की यात्रा करने की अपेक्षा पैदल घूमना ही अधिक पसंद था।

तिरुमिशी में, जहाँ वे पहले भी रह आये थे, अब कठिन संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन करने की इच्छा से दुबारा गये। तिरुमिशी में रहते समय रामोदार साधु ने कुछ तमिल भाषा भी सीखी।

इसके वाद उन्होंने कुर्ग में चार मास विताये। वहां कन्नड़ भाषा का भी परिचय प्राप्त कर लिया।

इसी समय रामोदार साधु को एक अति दुखद घटना का समाचार मिला।

पिता की मृत्यु का समाचार!

यह सन् १९२१ की बात है। रामोदार दास तब २८ साल के थे।

सन १९२१। हमारे देश के स्वतंत्रता-आंदोलन में यह वर्ष अत्यंत महत्व का है। रॉलेट एक्ट के विरोध में पंजाब में गोली चल चुकी थी, जलियांवाला वाग का कांड हो चुका था जिसने हिन्दू-मुसलमानों के खून को ही नहीं, दिलों को भी एक कर दिया था।

अंग्रेजों से स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए 'असहयोग-आंदोलन' शुरू हो गया था।

रामोदार साधु ने इस आंदोलन में खुलकर हिस्सा लिया। परिणाम यह हुआ कि १९२२ में फरवरी से अगस्त महीने तक उन्हें पूरे छह महीने अंग्रेज सरकार ने अपना 'मेहमान वनाकर रखा, अर्थात् जेल में रखा।

उन दिनों देश-भक्त लोग जेलखाने को या तो "कृष्ण-जन्म-स्थान" कहा करते थे, या कोई-कोई अपनी "ससुराल" भी!

फूल से भी अधिक कोमल

कांग्रेस में डटकर काम करने के फलस्वरूप और छह महीने वक्सर जेल में रह आने पर छपरा की कांग्रेस कमेटी ने रामोदार दास साधु को अपना मंत्री चुन लिया।

उस साल अखिल भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन गया में होनेवाला था। रामोदार दास साधु ने उसमें अपनी ओर से प्रस्ताव भेजा कि बुद्धगया का प्रसिद्ध बौद्ध-मंदिर बौद्धों का है, वह उन्हीं को सौंप दिया जाना चाहिए। किन्तु कांग्रेसी नेताओं ने इस प्रस्ताव पर ध्यान नहीं दिया।

ऐसी 'अपरिवर्तन-वादी' कांग्रेस से रामोदार साधु का मन कुछ उचाट हो गया। उन्होंने कांग्रेस के मंत्रि-पद से त्यागपत्र दे दिया और कुछ समय के लिए नेपाल चले गये।

बिहार में कांग्रेसी आंधी-तूफान के दिनों में साधु रामोदार दास ने अपने एक भाषण में कह ही तो दिया

—"राजनीति में खून का वही स्थान है, जो पूजा-पाठ में चंदन का।" इसी भाषण को बहाना बनाकर नेपाल से लौटने पर सरकार ने रामोदारदास साधु को दुबारा पकड़ लिया और दो साल तक—अप्रैल १९२३ से अप्रैल १९२५ तक—हजारीबाग जेल में रखा।

जेल में रहते समय रामोदार साधु ने अपना अधिकांश समय पढ़ाई-लिखाई में बिताया—खूब पढ़ा, खूब लिखा। जिसकी पढ़ने-लिखने की ईच्छा बलवती होती है वह कहीं भी रहकर पढ़-लिख लेता है।

जेल में रहकर साधु रामोदार दास ने कुछ फ्रेंच भाषा भी सीखी। किसी ने कहा है कि जो आदमी एक भाषा जानता है वह एक आदमी के बराबर होता है; जो दो भाषाएं जानता है, वह दो आदमियों के बराबर हो जाता है।

रामोदार दास साधु अब कई आदमियों के बराबर हो चले थे। तुम पूछोगे कैसे ?

अब वे कई भाषाओं से परिचित हो गये थे—हिन्दी, उर्दू, पालि, संस्कृत, अरबी, फारसी, तमिल, कन्नड़, अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा से भी !

अब १९२६ चल रहा था और रामोदार दास साधु की आयु ३३ साल की थी। वे पुनः यात्रा पर

निकले। पंजाब की ओर गये और उधर से ही लेह-लद्दाख के रास्ते पश्चिमी तिब्बत भी हो आये।

इस यात्रा की एक करुण-कथा के बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है :

"मुझे एक कुत्ते की जरूरत थी। हन्ले गुम्बा के लामा ने कहा—बड़े कुत्ते बेवकूफ होते हैं। यह कुतिया हमारे पास ल्हासा से आयी है। आप भारत के लामा हैं। आप को ही मैं इसे भेंट करना चाहता हूं।

"यह कुतिया बड़ी ही सयानी थी, बड़ी ही समझदार। किन्तु इसका शरीरान्त रास्ते में ही हो गया...

"माता और पिता के मरने पर तथा मेरे लिए प्राण देने वाले नाना-नानी के मरने पर भी जो आंखें नहीं पसीजीं, उन्हीं में आज छल-छल आँसू उमड़े आ आ रहे थे......"

किसी ने सच ही कहा है कि महापुरुषों के हृदय वज्र से भी कठोर और फूल से अधिक कोमल होते हैं।

त्रिपिटकाचार्य

केदारनाथ विद्यार्थी या रामोदार साधु की धीरे-धीरे बौद्धधर्म की ओर इतनी अधिक दिलचस्पी बढ़ी कि उन्होंने श्रीलंका पहुंचकर बाकायदा बौद्धधर्म का अध्ययन करने का निश्चय किया।

संयोग से सिहल अर्थात् श्रीलंका के एक महाविद्यालय 'विद्यालंकार-परिवेण' को एक संस्कृत अध्यापक की जरूरत थी। १६ मई १९२७ को, जिस समय रामोदार दास साधु की आयु ३४ वर्ष की थी, वे संस्कृत के अध्यापक की हैसियत से श्रीलंका पहुँचे।

अब उनका पहनावा रामोदार साधु की काली अलफी और हाथ में तूम्बा नहीं था, बल्कि उसकी जगह बढ़िया धोती-कुर्ता था।

श्रीलंका में वे "दम्बदिव पण्डितुमा", अर्थात् "भारत के पंडित जी" के नाम से जाने जाते थे। विद्यालंकार परिवेण के छात्र ही नहीं, उन्हें पालि पढ़ाने वाले उनके आचार्य, और यहां तक कि परिवेण के प्रिंसिपल गुरुवर

लुणुपोकुणे धम्मानन्द महास्थविर भी उनका आदर करते थे।

रामोदार दास की यह पहली लंका यात्रा थी। इस बार वे डेढ़ वर्ष यहां रहे, लेकिन इस थोड़े से समय में ही उन्होंने बौद्धधर्म के धर्मग्रंथ 'त्रिपिटक' को छान मारा। 'त्रिपिटक' मूल पालि भाषा में है और सारा ग्रन्थ लगभग ४० बड़ी-बड़ी जिल्दों में समाप्त होता है।

'त्रिपिटक' के अलावा उन्होंने इस बीच और भी नाना विषयों के ग्रन्थ पढ़े। पढ़े ही नहीं, स्वयं भी लिखे—एक तो "श्रीलंका" हिन्दी में लिखा, दूसरे बौद्ध-धर्म दर्शन के गम्भीर ग्रंथ "अभिधर्मकोश" की टीका संस्कृत में लिखी।

यह सब कार्य उन्होंने तब किया, जब उन्हें दूसरों को रोज आठ-आठ घंटे संस्कृत पढ़ानी पड़ती थी!

लुप्त ग्रन्थों की खोज में

भगवान बुद्ध का धर्म भारत से वाहर केवल लंका तक ही नहीं पहुंचा है। वर्मा, थाइलैंड, वियतनाम, चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत और मंगोलिया में भी फैला है। रामोदार साधु की इच्छा हुई कि बौद्धधर्म का थोड़ा भिन्न दिखाई देनेवाला जो तिब्बती स्वरूप है, उसकी तथा तिब्बती भाषा और साहित्य की भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिए उन्होंने नेपाल के रास्ते तिब्बत जाने का फैसला किया।

जब आदमी कोई दृढ़ संकल्प कर लेता है, और उसके लिए हर मुसीबत झेलने को तैयार हो जाता है, तो फिर सभी वाधाएं हट जाती हैं।

रामोदार साधु ने अपने तिब्बत जाने का न भारत सरकार को पता लगने दिया, न नेपाल सरकार और तिब्बत सरकार को ही। जब वे नेपाल और तिब्बत की सीमा पर पहुंचे तब उनके पकड़ लिये जाने का पूरा खतरा था। पकड़े जाते तो पता नहीं क्या गत बनती ?

उस समय उन्होंने मुझे एक पोस्टकार्ड लिखा :

"प्रिय आनन्द जी,

शरीर का मूल्य बहुत है। लेकिन समय आ जाय तो कुछ नहीं। मैं जिस कार्य को पूरा करने के लिए निकला हूँ, या तो उसे पूरा करके रहूंगा, नहीं तो उसे पूरा करने की कोशिश में ही अपनी जान दे दूंगा।

आपका—

रामोदार साधु"
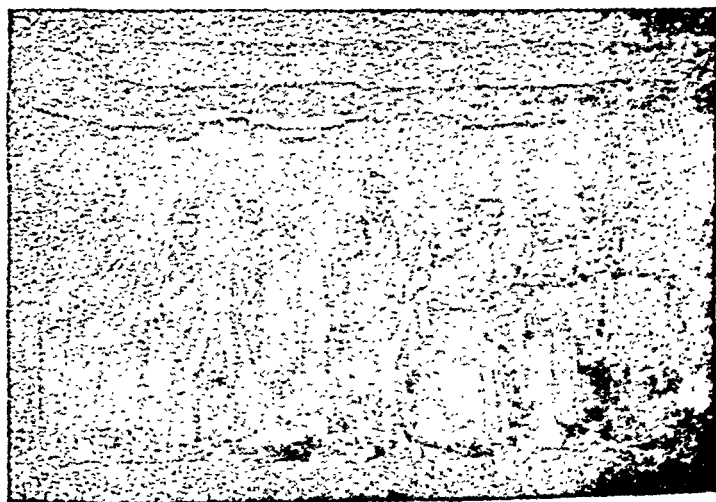
तिब्बत में राहुल जी लामाओं के साथ : दाहिने सबसे अन्त में

रास्ते में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को झेलकर वह किसी न किसी तरह तिब्बत की राजधानी ल्हासा

पहुंचे। वहां पहुंचकर उन्होंने अपने आने का ऊंचा उद्देश्य—धर्म का अध्ययन और बाद में उसका प्रचार—संस्कृत श्लोकों में रचा और उसके तिब्बती अनुवाद सहित किसी न किसी तरह दलाई लामा के हाथों में पहुंचा दिया।

उस समय के तिब्बत के राजा और धर्मगुरु दलाई लामा ने कहला भेजा—

"मजे में रहें। किसी दिन सरकार बुलायेगी।"

ल्हासा में रामोदार दास तिब्बती साहित्य के गंभीर अध्ययन के लिए पहुंचे थे। भोट (तिब्बती) भाषा का कुछ ज्ञान तो उन्होंने भारत में रहते ही छपी पुस्तकों से प्राप्त कर लिया था। तिब्बत पहुँचने पर वे मजे में तिब्बती में बातचीत कर सकते थे।

इसी समय नेपाल और तिब्बत के बीच लड़ाई छिड़ने को हुई। विद्यालंकार परिवेण के प्रिंसिपल गुरुवर भु० धम्मानन्द जी को घबराहट तथा चिन्ता होने लगी। उन्होंने मुझसे कहा कि पण्डितुमा (पंडितजी) को तिब्बत से शीघ्र वापिस आने के लिए लिखो।

रामोदार साधु को लिखा गया तो उनका उत्तर आया कि जिन ग्रन्थों को पढ़ने के लिए आया हूँ, उन ग्रन्थों को साथ लेकर ही वापिस लौट सकता हूँ। उन

ग्रन्थों को तिब्बत से खरीदकर लाने के लिए तीन हजार रुपयों की जरूरत थी।

उस समय के तीन हजार रुपये आज के तीस हजार रुपयों के बराबर होंगे। 'नायकपाद' धम्मानन्दजी ने श्रीलंका के अपने श्रद्धालु दायकों से कहकर तीन हजार रुपये ल्हासा भिजवाये।

तिब्बत छोड़ने से पहले रामोदार दास वहां के कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों को देख आये। वे डेपुङ और सेरा जैसे प्रसिद्ध विहारों को देख आये, जहां क्रमशः सात हजार और पांच हजार भिक्षु रहते थे। वे समये विहार को देख आये। ग्यारहवीं शताब्दी में जब भारतीय पंडित दीपंकर श्रीज्ञान विक्रमशिला से तिब्बत गये थे, तो उन्होंने समये विहार में संग्रहीत संस्कृत ग्रंथों को देखकर कहा था कि इतने अच्छे ग्रंथ तो विक्रमशिला विहार में भी नहीं हैं।

२४ अप्रैल १९३० को एक मंगोल लामा धर्मकीर्ति को साथी बना रामोदार दास ने ल्हासा छोड़ दिया। सिलीगुड़ी (दार्जिलिंग) और कलकत्ता होते हुए वे २० जून को लंका पहुंचे।

उन्होंने अपनी इस प्रथम तिब्बत-यात्रा का रोचक विवरण "तिब्बत में सवा साल" पुस्तक में लिखा है।

बौद्ध साधु

फिर नाम बदला...

पहले केदारनाथ पांडे, फिर रामोदार दास साधु और अब...? तिब्बत से लंका लौट आने पर रामोदार साधु ने बाकायदा 'भिक्षु' अर्थात् 'बौद्ध साधु' बन जाने का निश्चय किया। २० जुलाई १९३० को उनकी 'उपसम्पदा' हुई और उन्होंने बौद्ध भिक्षु के काषाय वस्त्र धारण किये।

और नाम ?

केदारनाथ पांडे का गोत्र था—सांकृत्य; इसलिए इससे सांकृत्यायन बना और नाम के लिए उन्होंने 'राहुल' पसन्द किया। इस प्रकार, केदारनाथ पांडे या रामोदार साधु का अब नाम था—राहुल सांकृत्यायन !

राहुल सांकृत्यायन ! यह नया नाम तो अब तुम जान ही गये। पुस्तक के आरम्भ में, प्रयाग विश्व-विद्यालय के गणित के प्राध्यापक डा. बी. एन. प्रसाद के घर भी जो घटना एक अतिथि-साधु को लेकर घटी थी, वे यही बौद्ध साधु राहुल सांकृत्यायन थे।

उन दिनों भारत में "सत्याग्रह" चल रहा था। लोगों के सिर थे और अंग्रेज सरकार की लाठियाँ। राहुलजी ने एक दिन मुझसे कहा—"अंग्रेज सरकार की लाठियों को सिरों की कमी नहीं होनी चाहिये।"

पहले मैं और बाद में राहुलजी भी श्रीलंका से भारत चले आये।

१९३१ में सारनाथ में "मूलगंध कुटी विहार" का उद्‌घाटन हुआ। उसी समय प्रसिद्ध बौद्धधर्म प्रचारक अनागरिक धर्मपाल ने भी 'भिक्षु' की दीक्षा ग्रहण की। उत्सव की समाप्ति के बाद राहुल सांकृत्यायन फिर तीसरी बार लंका लौटे।

इस बार श्रीलंका में कुछ ही महीने रह पाये थे कि 'ब्रिटिश बुद्धिस्ट मिशन' की ओर से निमन्त्रित होकर हम दोनों ने धर्म-प्रचारार्थ लंदन के लिए प्रस्थान किया।

यूरोप-यात्रा

१९३२ की ५ जुलाई को हमारा जहाज कोलम्बु से चला और २३ जुलाई को मरसाई (फ्रांस) पहुँचा। पेरिस से लन्दन तक की यात्रा ट्रेन से की।

राहुलजी तो मेरा साथ देने के लिए ही लंदन आये थे। वास्तव में मुझे ही एक धर्म-प्रचारक के कर्तव्य को निभाना था। राहुलजी पर वैसा भार नहीं था। लेकिन मेरी अपेक्षा बहुत थोड़ा समय इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में रहकर राहुलजी, न केवल उन देशों के बौद्धों के हृदयों में, बल्कि उन देशों की विद्वत्-मंडली के हृदय में भी अपने लिए एक विशेष स्थान बना आये।

मैं इन तीनों देशों में रहा कुल मिलाकर एक साल आठ महीने। राहुलजी रहे केवल तीन महीने। लेकिन इतने ही दिनों में वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक यूरोप को देख-समझ आये। आखिर गहराई से देखने के लिए वैसी आंख भी तो होनी चाहिए। अपनी इस यात्रा के बारे में उन्होंने एक पुस्तक लिखी है—"मेरी यूरोप यात्रा"।

तिब्बत से राहुलजी, ढेर सारे प्राचीन ग्रन्थों के अलावा, कुछ बढ़िया चित्रपट भी लाये थे। पेरिस तथा लंदन में इन चित्रों की प्रदर्शनी हुई। लंदन में रहते ही उन्होंने ये चित्र, जिनकी कीमत एक लाख रुपयों से कम न होगी, अपने ही देश के पटना-संग्रहालय को दान देने का संकल्प किया। यदि वे चाहते तो उन्हें बेचकर स्वयं लखपति बन सकते थे।

यदि तुम कभी पटना जाओ तो पटना-संग्रहालय देखने जरूर जाना। संग्रहालय में तुम्हें राहुलजी द्वारा दे तिब्बती चित्र देखने को मिलेंगे; संग्रहालय-भवन में ही 'काशीप्रसाद जायसवाल शोध-संस्थान' में तुम्हें वे ग्रंथ भी देखने को मिलेंगे जिन्हें राहुलजी तिब्बत से लाये थे।

कार्ल मार्क्स का नाम तो तुमने जरूर ही सुना होगा। मार्क्स का जन्म जर्मनी में हुआ था, लेकिन उन का अधिकांश जीवन लंदन में बीता था। उनकी मृत्यु भी लंदन में ही हुई थी। वहीं के हाइगेट कबरिस्तान में उन्हें दफनाया गया था।

लंदन में रहते हुए राहुलजी कार्ल मार्क्स की समाधि पर फूल चढ़ाना भला कैसे भूल सकते थे? लिखते

है : "हम ढूंढते-ढूंढते उस कबरिस्तान पर पहुँचे। बाहर कोई स्त्री फूल बेच रही थी। हमने उससे फूल लिये।......वह बिल्कुल साधारण कब्र थी, जिस पर घास उगी हुई थी। इसी कब्र में दुनिया के श्रम-जीवियों का उद्धार करनेवाला अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वयं परिश्रम करते रहकर......अब शांतिपूर्वक सो रहा था। मैंने बड़े भक्ति-भाव से उन फूलों को समाधि पर चढ़ाया। सिरहाने के पत्थर पर मार्क्स का नाम खुदा था। किसी ने वहीं एक लाल झंडा भी रख दिया था!"

लंदन से राहुलजी पेरिस गये। वहां से बर्लिन। दोनों जगहों में देखने योग्य स्थानों को देखा और जिन-जिन विद्वानों से भेंट करना चाहते थे, भेंट की।

राहुलजी रूस जाना चाहते थे। किन्तु उस समय इसकी व्यवस्था न हो सकी।

अन्त में, जनवरी १९३३ में वे लंका वापिस लौट आये।

फिर ग्रन्थों की खोज में

लंका में अधिक दिन रहने का काम नहीं था। ३० जनवरी को ही भारत के लिए प्रस्थान। गुरुवर धम्मानंद के बारे में उन्होंने अपनी उस दिन की डायरी में लिखा है—"विदा होते समय उन (गुरुवर) की आंखों में आंसू आ गये। उनका बड़ा प्रेम है। कौन जानता है, यही अंतिम दर्शन हों।" सचमुच, फिर गुरु-शिष्य की भेंट नहीं हो सकी।

राहुलजी लद्दाख हो ही आये थे। किन्तु वह पहली यात्रा "पहली यात्रा" मात्र थी। अब निश्चित उद्देश्य लेकर दूसरी बार हो आने का निर्णय किया।

इस बार जम्मू-कश्मीर के रास्ते लद्दाख पहुँचे। गिलगित की खुदाई में बहुत से पुराने ग्रन्थों का पता लगा था, वे उन्हें देखते हुए ही कश्मीर से आगे बढ़ना चाहते थे।

अपनी इस "लद्दाख-यात्रा" में राहुलजी ने त्रिपिटक के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ "मज्झिम-निकाय" का

हिन्दी अनुवाद कर डाला। भोट (तिब्बती) भाषा सीखने के लिए कुछ रीडरें लिखीं। और भी बहुत कुछ। उन्होंने लिखा है: "काम से घिरे रहने में भी एक आनन्द आता है। इसलिए रात-दिन व्यस्त रहते भी वे तीन मास मेरे लिए खुशी के दिन थे।"

लद्दाख कश्मीर में होने से और कश्मीर भारत का ही एक राज्य होने से राहुलजी भारत में ही थे; इसलिए बड़ौदा में होनेवाले प्राच्य-सम्मेलन के हिन्दी-विभाग का सभापतित्व करने के लिए उन्हें वापिस आने की जरूरत पड़ी तो वे शीघ्र वापिस लौट आये।

१९३४ में बिहार में जोर का भूकंप आया। जन-धन की बेहिसाब हानि हुई। लोगों को अपार कष्ट हुआ। ऐसे समय राहुलजी दुखी जनों की सेवा करने के लिए बिहार में रहे।

अब इरादा हुआ दुबारा तिब्बत जाने का। अपना अधूरा काम, या जो कुछ पिछली यात्रा में न किया जा सका था, उसे पूरा करना था।

पिछली बार तो नेपाल के रास्ते छिपकर तिब्बत गये थे। इस बार नये रास्ते कालिम्पोंग, सिक्किम होते हुए ल्हासा जाना तै किया।

२० मार्च १९३४ को पटना से रवाना हुए। लिखाई का काम यात्रा में भी बराबर जारी रहा।

राहुलजी ने त्रिपिटक के तीसरे हिस्से "विनय-पिटक" का हिन्दी अनुवाद पूरा कर डाला।

तिब्बत जाने का उनका उद्देश्य था, उन संस्कृत पुस्तकों का पता लगाना जिनका भारत में कहीं पता नहीं था, लेकिन जो अपने मूल रूप में या भोट भाषा में अनुवादों के रूप में, तिब्बत में प्राप्त थे।

तुम पूछोगे : तो क्या ऐसी पुस्तकें उन्हें वहां मिलीं ?

हां, मिलीं। एक नहीं, अनेक ऐसी पुस्तकें मिलीं जो अपने देश के विद्वानों द्वारा लिखी जाकर भी अपने देश से लुप्त हो गई थीं, किन्तु तिब्बत के प्राचीन मठों में उपलब्ध थीं !

राहुलजी को ऐसी बहुत-सी पुस्तकें तिब्बत में मिलीं। आचार्य धर्मकीर्ति के ग्रन्थ "वाद-न्याय" पर आचार्य शांतरक्षित की टीका मिल जाने से तो उन्हें अपार प्रसन्नता हुई।

तिब्बत में रहते राहुलजी ने बहुत सी पुस्तकों की नकल की, कुछ के फोटो भी लिये।

बाद में जब फोटो धुलवाये गये तो वे बेकार साबित हुए। जानते हो क्यों ? हंसो नहीं तो बताऊं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन अभी "नौसिखिया" फोटोग्राफर ही थे।

भिक्षु की अगली यात्रा

राहुलजी चुपचाप बैठने वाले व्यक्ति तो थे नहीं। यात्राओं में भी पढ़ाई-लिखाई का काम चलता रहता। इसी बीच उन्होंने एक पुस्तक लिखी—"साम्यवाद ही क्यों?" इसमें उन्होंने बताया कि संसार को सुखी बनाने के लिए "साम्यवाद" को छोड़ दूसरा मार्ग नहीं।

तुम तो जानते ही हो कि इस समय राहुल सांकृत्यायन बौद्ध-भिक्षु थे। उनका परिधान धोती-कुर्ता या सूट-बूट नहीं था; बल्कि एक बौद्ध-भिक्षु के काषाय वस्त्र थे। इसी वेष में उन्होंने जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैंड की यात्रा की थी।

अब उनकी इच्छा हुई पूर्व के बौद्ध देशों—बर्मा, थाईलैंड, कोरिया, जापान—की यात्रा करने की।

राहुलजी पानी के जहाज से सिंगापुर, हांगकांग होते हुए ३ मई १९३५ को जापान पहुंचे।

जापान के सभी प्रसिद्ध नगरों को देखा और बाद में "जापान" नामक पुस्तक में यात्रा-विवरण लिखा।

जापान के बाद राहुलजी कोरिया गये। कोरिया के निवासी अपने देश को "फूसन" कहते हैं, जैसे कि तिब्बतवाले अपने देश को "भोट"। कोरिया के बाद राहुलजी लगभग एक सप्ताह मंचूरिया में रहे। इसके बाद तो सोवियत-भूमि का ही नम्बर था, जहां जाने की लालसा उनके मन में बहुत दिनों से थी।

सोवियत-भूमि के बारे में बाद में उन्होंने एक पूरी पुस्तक भी लिखी है।

सोवियत-भूमि से राहुलजी ईरान के रास्ते लौटे। ईरान में उन्होंने फारसी के लोक-प्रसिद्ध कवियों हाफिज और शादी की समाधियां देखीं।

उन्होंने वहां महाकवि फिरदौसी की समाधि भी देखी। यह वही फिरदौसी थे, जिन्हें महमूद गजनवी ने लालच में पड़कर साठ हज़ार सोने के सिक्के देने के बजाय, साठ हजार चाँदी के सिक्के देने चाहे थे।

स्वाभिमानी फिरदौसी ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया था।

जानते हो? ईरान में अंगूर इतने सस्ते बिकते हैं, जैसे अपने देश में गाजर-मूली। लेकिन इसी ईरान यात्रा के बाद राहुलजी के जीवन के लिए भयंकर संकट खड़ा हो गया।

कैमरा पिस्तौल बना

राहुलजी मौत के मुंह में...

हां, मौत के मुंह में ! ईरान से लौटे तो उन्हें गले की एक बीमारी ने ऐसा जकड़ा कि सचमुच मरते-मरते बचे। उनके एक श्रद्धालु मित्र घूपनाथ सिंह ने उनकी बड़ी सेवा की।

तुमने डा. काशी प्रसाद जायसवाल का नाम पढ़ा या सुना होगा। अपने देश के बहुत बड़े इतिहासवेत्ता थे, साथ ही पटना के नामी एडवोकेट। राहुलजी का और उनका निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया। दोनों विद्वान एक दूसरे का आदर करते थे। जायसवाल जी चाहते थे कि और अधिक ग्रन्थों की खोज करने के लिए राहुलजी पुनः, तीसरी बार, तिब्बत जायें।

इस बार—१९३६ में—राहुलजी नेपाल के रास्ते तिब्बत गये। अब, पहली बार की तरह, छिपकर जाने की जरूरत नहीं थी। लेकिन रास्ते के अनेक खतरे तो थे ही। रास्ते में डाकुओं का डर बना रहता था।

इसी तिब्बत-यात्रा की एक घटना है। राहुलजी तिब्बत से लौट रहे थे। दो डाकुओं ने आ घेरा। राहुलजी के गले में कैमेरा लटक रहा था। उसकी चमड़े की पट्टी ठीक वैसी ही थी, जैसी पिस्तौल लटकाने की होती है। डाकुओं ने वह पट्टी देखी तो समझा कि पिस्तौल है। वे जान लेकर भागे !

इस बार राहुलजी को तिब्बत में बड़े महत्व के प्राचीन ग्रन्थ मिले। उन्हें आचार्य धर्मकीर्ति के "प्रमाण-वार्तिक" और आचार्य असंग के "योगाचार-भूमि" जैसे ग्रन्थ मिले। इन ग्रन्थों की प्राप्ति से, न केवल अपने देश के, बल्कि विदेशों के भी विद्वानों में इतनी उत्सुकता जागी कि सुदूर लेनिनग्राद (रूस) के आचार्य श्चेरवास्की जैसे महाविद्वान उन्हें देखने के लिए भारत आना चाहते थे।

तो क्या आचार्य श्चेरवास्की भारत आये ?

नहीं, डा. श्चेरवास्की स्वयं भारत नहीं आ सके। उन्होंने राहुलजी को रूस आने का निमंत्रण दिया। राहुलजी तैयार हो गये। सोवियत सरकार की अनुमति मिलने में कुछ देर थी। इस बीच राहुलजी ने लाहुल हो आने की सोची। इस यात्रा में मैं उनके साथ था।

लाहुल से लौटने पर राहुलजी को उनके जीवन

का सबसे दुखद समाचार सुनने को मिला—डा० काशी-प्रसाद जायसवाल के देहांत का समाचार। जिस समय पटने में राहुलजी जायसवालजी की कोठी में प्रवेश करने को थे, जायसवालजी की अर्थी कोठी से बाहर लायी जा रही थी !

सितम्बर १९३७ को राहुलजी ईरान के रास्ते रूस के लिए रवाना हुए। उनकी यह दूसरी सोवियत-यात्रा थी। इस बार वे लेनिनग्राद के एक प्राच्य संस्थान में प्राध्यापक बनकर गये।

राहुलजी को वहां जिस संस्थान में संस्कृत पढ़ाने का काम मिला था, उसी संस्थान की सेक्रेटरी का नाम था, ऐलेना। यही ऐलेना (लोला) आगे चलकर राहुल सांकृत्यायन के सुपुत्र इगोर राहुलोविच की माता बनीं।

राहुलजी को फिर एक बार तिब्बत जाना था, इसलिए वे शीघ्र ही रूस से वापस भारत लौट आये।

भागो नहीं, दुनिया को बदलो. . .

जब से राहुलजी ने दुनिया की सैर करनी शुरू की, तब से उन्होंने कितनी भाषाओं के कितने ग्रंथों को उलटा-पलटा होगा, इसका हिसाब लगाना कठिन है।

तुम देख ही चुके हो कि राहुलजी ने कितने रूप बदले। वैरागी साधु रहे, आर्य-समाजी रहे, और अब. . . . . ?

अब वे "भिक्षु" नहीं रहे। रह गये सिर्फ बौद्ध।

राहुलजी बुद्धिवादी थे, विकासवादी थे। वे मानते थे कि धीरे-धीरे परिवर्तन होने के सिद्धांत के अनुसार यह दुनिया बनी है। आज भी हम चाहें या न चाहें तो भी, इस दुनिया में परिवर्तन हो रहा है। यदि हम बुद्धि से काम लें तो हम इस दुनिया की व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन ला सकते हैं कि यह आज की अपेक्षा अधिक सुखी बन सके।

इसलिए आगे चलकर राहुलजी ने एक किताब लिखी—"भागो नहीं, (दुनिया को) बदलो"।

जमींदार की लाठियाँ, और....

इस बार की तिब्बत-यात्रा राहुलजी की चौथी तिब्बत-यात्रा थी। इस यात्रा में उन्हें अनेक असुविधाओं का ही नहीं, तिब्बती डाकुओं तक के खतरे का सामना करना पड़ा। राहुलजी का कहना था कि, "मरना उतना बुरा नहीं, जितना बुरा है मरने से डरना।"

तिब्बत से लौटकर राहुलजी ने भारत के नंगे-भूखे किसानों-मजदूरों को सहायता पहुंचाने के उद्देश्य से ही नहीं, 'किसान-मजदूर राज्य' स्थापित करने के उद्देश्य से राजनीति में सक्रिय भाग लेने का निश्चय किया।

१९३८-३९ का जमाना था। देश पर अंग्रेजों का शासन था; किन्तु कई प्रदेशों की तरह बिहार में उस समय कांग्रेसी मंत्रि-मंडल स्थापित हो गया था। कांग्रेसी नेताओं ने किसानों-मजदूरों के बल पर अंग्रेजों से थोड़ी-सी शक्ति छीन ली थी। उतनी ही शक्ति ने उन्हें इतना मदमस्त कर दिया था कि वे उन्हीं किसानों-मजदूरों को भूल गये, जिनके बलपर यह शक्ति छीनी थी।

किसानों के जोतने-बोने के अधिकार के लिए राहुलजी ने किसानों के साथ अमावरी (विहार) में "सत्याग्रह" किया। खुद हंसिया लेकर खेत काटना शुरू किया। जमींदार चिढ़ उठा। जमींदार के हाथीवान कुरबान ने पीछे से पहुंच कर राहुलजी की खोपड़ी पर भरपूर लाठी मारी। महापंडित के सिर से खून की धारा वह निकली!

यह वात जब सभ्य जगत को मालूम हुई तो सभी लोगों ने उस समय की कांग्रेसी-सरकार पर थू-थू किया। स्पष्ट हो गया कि कांग्रेसी सरकार मिल-मालिकों और जमींदारों की सरकार है; किसान-मजदूरों की नहीं!

किसान-मजदूरों की सरकार होती तो क्या किसान-मजदूरों के नेता "राहुल बाबा" के सिर से खून की धारा वहती?

लेकिन राहुलजी का दयालु हृदय तो देखो! जिस कुरवान ने राहुलजी पर लाठी चलाई थी, उस पर सरकार ने मुकदमा चलाना चाहा। १९ अगस्त १९३९ को मुकदमे की तारीख थी। राहुलजी ने अदालत में पहुँचकर दरख्वास्त दी:

"मैं नहीं चाहता कि कुरवान पर मुकदमा चलाया जाय। उसे छोड़ दिया जाय।"

रहते, सोने के पहले, अपनी दैनन्दिनी जरूर लिखते थे। इन्हीं डायरियों के आधार पर उन्होंने अपनी "जीवन-यात्रा" लिखी है—चार बड़े खंडों में। इस छोटे "जीवन-चरित्र" के बाद जब भी तुम पढ़ सको राहुलजी का अपना लिखा हुआ बड़ा "जीवन-चरित्र" —उनकी अपनी "जीवन-यात्रा"—अवश्य पढ़ना।

अब १९४३ चल रहा था। जानते हो इस समय राहुलजी की आयु कितनी थी? हिसाब लगाकर देखो: १८९३ में जन्म हुआ था। अब १९४३ में ५० वर्ष के हो रहे थे।

५० की आयु! याद है तुम्हें, राहुलजी ने क्या प्रण किया था?

"पचास की आयु होने तक आजमगढ़ जिले की सीमा में पैर नहीं रखूंगा।"

अब वे ५० के हो चुके थे और आजमगढ़ जिले, अर्थात् अपने जन्म-स्थान जाने के लिए स्वतंत्र थे।

हिन्दी के प्रसिद्ध जनवादी कवि नागार्जुन को अपना साथी बना कर एक सप्ताह के लिए वे आजमगढ़ हो आये। यह यात्रा राहुलजी के लिये एक प्रकार की तीर्थ-यात्रा थी।

रूस में प्राध्यापक

राहुलजी को फिर रूस से निमंत्रण मिला। वे स्वयं भी रूस जाने के लिए उत्सुक थे। उनके पुत्र इगोर और इगोर-माता रूस में ही थीं।

लेकिन पासपोर्ट और वीसा मिलने में देर हुई। अपनी सरकार अपने देश से बाहर जाने के लिए जो आज्ञा-पत्र देती है, उसे "पासपोर्ट" कहते हैं और किसी दूसरे देश की सरकार अपने देश में आने की जो आज्ञा देती है, उसे 'वीसा' कहते हैं। उस समय भारत अंग्रेजों का गुलाम था, उन्होंने इसे एक बड़ा जेलखाना बना रखा था। किसी भी देशभक्त का देश से बाहर जाना आसान न था।

रूस जाने की तैयारी और उसके लिए खटपट करते समय भी राहुलजी ने अपनी कलम को सुस्त नहीं होने दिया।

"सिंह सेनापति" नामक एक उपन्यास पहले लिख चुके थे; "जय यौधेय" नाम का एक दूसरा उपन्यास भी लिख डाला।

राहुलजी इतना तेज लिखते या दूसरों को बोल-बोलकर लिखाते कि दो-तीन सप्ताह में ही एक पूरा ग्रन्थ लिख डालते थे।

पासपोर्ट, वीसा और खर्चे के रुपये आदि की व्यवस्था हो जाने के बाद ४ जून १९४५ को वे लेनिनग्राद पहुंचे। पुत्र इगोर और लोला सांकृत्यायन दोनों लेनिनग्राद में थे। राहुलजी लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग में पहले संस्कृत और हिन्दी पढ़ाते रहे, बाद में तिब्बती भी। वे लिखते हैं कि "हमारे विभाग में १९४७ के आरंभ में छात्रों और छात्राओं की संख्या चालीस के करीब थी, तथा अध्यापकों और अध्यापिकाओं की सख्या सात-आठ।" हमारे देश के विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक और अध्यापकों की इतनी कम रहती है कि बेचारे अपने विद्यार्थियों को पहचान तक नहीं पाते।

इस बार राहुलजी कुल २५ मास सोवियत-भूमि में रहे। उन्होंने इन २५ महीनों का विवरण एक स्वतंत्र पुस्तक 'रूस में पचीस मास" में लिखा है, जो उनकी "जीवन-यात्रा" का ही एक भाग है।

रूसी भाषा राहुलजी बहुत अच्छी तरह जानते ही थे। उन्होंने मध्य एशिया की ताज्रिक आदि भाषाएं

नों सीखीं। केवल सीखीं ही नहीं, बल्कि उन भाषाओं की कुछ बढ़िया पुस्तकों का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनु-वाद भी किया।

मध्य-एशिया के इतिहास में राहुलजी की गहरी रुचि थी। वे जानते थे कि सोवियत पुरातत्ववेत्ताओं ने मध्य-एशिया के इतिहास पर बहुत काम किया है। मध्य-एशिया की संस्कृति का भारत की संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है; इसलिए नवीनतम खोजों के आधार पर वे मध्य-एशिया पर एक बड़ा ग्रन्थ लिखना चाहते थे। रूस में रहते समय राहुलजी ने मध्य-एशिया के बारे में बहुत-सी सामग्री, बहुत से ग्रन्थ एकत्र किये।

राहुलजी को अब दो जीवनों में से एक का चुनाव करना था। एक था सोवियत-भूमि में रहकर जीवन बिताना; दूसरा था भारत-भूमि लौटकर फिर पूर्ववत् अपने देश, उसकी भाषा तथा साहित्य की सेवा में जुट जाना। उन्होंने दूसरे जीवन का ही चुनाव किया।

रूस में जो उपयोगी ग्रन्थ जमा किये थे उन्हें भारत लाने की व्यवस्था हो गयी।

लोला सांकृत्यायन को पति-विछोह का और इगोर को पिता-विछोह का भारी दुःख था। ९ वर्ष के इगोर ने तो रोते हुए कहा था—"अब तुम नहीं आओगे।"

१९४७ के १५ अगस्त को राहुलजी ने अपने अन्य सहयात्रियों के साथ उस पानी की जहाज में, जो उन्हें लन्दन से वापिस बम्बई ला रहा था, भारत का स्वातंत्र्य-दिवस मनाया। बम्बई उतरे तो उन्होंने लिखा—

"आज भी बम्बई की सड़कों पर अभी १५ अगस्त की तैयारी दिखलाई पड़ रही थी। आज भी महोत्सव सम्बंधी दीपमाला हुई। तिरंगे झण्डे और वंदनवार पताकाएं सभी जगह फहरा रही थीं, सभी जगह उत्साह दिखाई पड़ रहा था। मुझे नए भारत में लौटने का बड़ा आनन्द हुआ।"

अंग्रेजी या हिन्दी ?...

पूरे दो साल के वाद राहुलजी फिर अपने देश आये थे। इसी बीच अपना देश काफी वदल गया था—परतंत्र से स्वतंत्र हो गया था। किसी भी काम में हाथ डालने के पहले राहुलजी के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने देश की उस समय की स्थिति को अच्छी तरह से समझ लें। इसलिए राहुलजी ने कुछ समय देश के भ्रमण में विताया।

इसी वीच राहुलजी अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुन लिये गये।

भापा के मसले पर कुछ मतभेद होने से राहुलजी ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से त्याग-पत्र दे दिया।

राहुलजी जव हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे तो उनके पास दूर-दूर से निमंत्रण आते थे।

सम्मेलन के कार्य तथा यात्राओं के साथ-साथ उनका अपना लेखन-कार्य भी चलता। इसके अलावा उन्होंने एक और वड़ा काम हाथ में लिया।

कौन-सा काम ?

नयी सरकार के शासकों ने देश के विद्वानों को चुनौती दी : आप लोग कहते तो हैं कि देश के शासन का काम हिन्दी में होना चाहिए। लेकिन हिन्दी में शासन, विज्ञान आदि के शब्द हैं कहां ?

राहुलजी जैसे महापंडित ने इसे न केवल राष्ट्र-भाषा हिन्दी का, बल्कि देश के विद्वानों का अपमान समझा। उन्होंने चुनौती स्वीकार कर ली।

विभिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्दकोश तैयार करने की हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से एक बड़ी योजना बनी। राहुलजी प्रधान संपादक थे।

कुछ ही महीनों के भीतर "शासन शब्दकोश" तैयार होकर प्रकाशित हुआ। बाद में विज्ञान की शब्दा-वाली से सम्बंधित और दो कोश प्रकाशित हुए।

राहुलजी दर्जनों भाषाएं जानते थे। पारिभाषिक शब्दकोशों के अलावा उन्होंने अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के हिन्दी पाठकों के उपयोग के लिए एक छोटा "हिन्दी-कोश" भी तैयार किया।

मैं तुम्हें बता ही चुका हूं कि राहुलजी ने भोट अर्थात् तिब्बती भाषा सीखने के लिए कुछ रीडरें तैयार की थीं। उन्होंने एक "तिब्बती-हिन्दी" और एक "तिब्बती-संस्कृत कोश" भी तैयार किया।

राहुलजी संस्कृत भाषा तथा साहित्य के महापंडित थे। उनकी संस्कृत विद्वत्ता के कारण ही वाराणसी के संस्कृत-पंडितों की "श्रीकाशी पण्डित-सभा" ने १९३९ में उन्हें "महापंडित" की उपाधि से विभूषित किया था।

तुम सोचते हो, संस्कृत भाषा बहुत कठिन है?

हां, कुछ तो है ही, क्योंकि यह जीवित भाषा नहीं है, और फिर इसका व्याकरण भी बहुत कसा हुआ है।

राहुलजी इस बात को जानते थे। इसीलिए उन्होंने तुम्हारे-हमारे लिए संस्कृत भाषा की छोटी-छोटी ५ पुस्तकें लिखी हैं।

राहुलजी जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे तो उन्हें बहुत व्यस्त रहना पड़ता था। परिणामतः स्वास्थ्य गिरने लगा। इसी समय वे "मधुमेह" जैसे खतरनाक रोग के शिकार हो गये। रोज इन्जेक्शन लेने पड़ते।

रूस जैसे ठंडे देश में रह आने के कारण अब राहुलजी को गर्मी में बहुत कष्ट होता था। इसलिए उन्होंने किसी पहाड़ी जगह बसने का निश्चय कर लिया।

अपने पर्वतीय-निवास के लिए राहुलजी ने कालिम्पोंग को पसन्द किया।

मधुपुरी मसूरी

जानते हो कालिम्पोंग कहाँ है ?

उत्तर बंगाल में हिमालय की तराई में सिलीगुड़ी शहर है । कालिम्पोंग सिलीगुड़ी से लगभग ४५ मील दूर है और साढे चार हजार फीट की उंचाई पर बसा हुआ है ।

इसी कालिम्पोंग में १९४९ में एक बंगले में राहुलजी अपने सहयोगियों के साथ रहने लगे ।

सहयोगी ?

हां, सहयोगी । राहुलजी ने इतने अधिक काम हाथ में लिये थे कि अब उन्हें सहयोगियों की जरूरत थी ।

पारिभाषिक-शब्द कोश को तैयार करने का काम जारी था । इसमें प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र, सेनगुप्त आदि उनके सहयोगी थे । कुमारी कमला परियार टाइप का काम करती थीं । कुमारी कमला राहुलजी के और भी कई कामों में सहायक होती थीं । राहुलजी

को अपनी बीमारी की रोकथाम के लिए जो इन्जेक्शन लेने पड़ते थे, वे भी कमलाजी लगा देती थीं।

१९४९ के दिसम्बर में हैदराबाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ। राहुलजी के साथ कमलाजी भी थीं। हैदराबाद सम्मेलन के बाद अजन्ता, एलोरा देखकर वर्धा होते हुए राहुलजी प्रयाग लौटे।

राहुलजी उस समय भारतीय संविधान की अनुवाद-कमेटी के सदस्य थे। उन्हें इस काम के लिए बार-बार दिल्ली जाना पड़ता था। कालिम्पोंग से इतनी लम्बी यात्रा करना सुविधाजनक नहीं था।

और फिर, अपनी बीमारी के कारण तथा पढ़ने-लिखने का कार्य ज्यादा अच्छी तरह से एक जगह रहकर कर सकने की सम्भावना के कारण भी, राहुलजी को अब अपना "घर" बसाने की इच्छा हुई। अब तक तो "घुमक्कड़" रहे। आखिर पंछी भी आकाश में हमेशा उड़ता ही नहीं रह सकता, उसे भी एक घोंसला खोजना ही पड़ता है। राहुलजी को अब न केवल अपने लिए, बल्कि कमलाजी के लिए भी एक 'घर' की बड़ी आवश्यकता हुई। कमलाजी अब उनकी केवल सहायक ही नहीं, पत्नी भी थीं।

मित्रों ने कई प्रस्ताव रखे। राहुलजी और

कमलाजी ने उन पर विचार किया। इस बीच १९५० की गर्मी के चार महीने उन्होंने नैनीताल में विताये। अन्त में स्थायी निवास के लिए राहुलजी ने मसूरी को पसंद किया। वहीं एक बंगला खरीद लिया।

अब तो राहुलजी मसूरी में 'घर' बसाकर रहने लगे थे। सच्ची बात है कि गृहणी के साथ ही घर बसता है। राहुलजी के प्रशंसकों को, उनके मित्रों को —जिनकी संख्या बहुत बड़ी थी—मसूरी जाने पर राहुलजी के निवास-स्थान, 'हर्न क्लिफ हैप्पी वेली' में ठहरने का सौभाग्य प्राप्त होने लगा।

मसूरी में रहते समय राहुलजी के पास कामों की कमी नहीं थी। इसी बीच उन्होंने "राष्ट्रभाषा प्रचार समिति" की साहित्य-निर्माण योजना का भी काम हाथ में ले लिया था।

मसूरी में रहते राहुलजी ने एक अलशेसियन अर्थात् भेड़िया कुत्ता पाल लिया। बड़ा भयानक कुत्ता था। कमलाजी ने उसका नाम रखा था "भूत"!

"भूत" भी भला कोई बढिया नाम है? राहुल-जी ने "भूतनाथ" कहकर उसका पद ऊंचा कर दिया!

भूतनाथ को हमेशा कुछ न कुछ मुंह में लिए घूमने का शौक था। कोई नया आदमी तो उसके रहते

राहुलजी के बंगले की ओर झांक भी नहीं सकता था। लेकिन काले मुंहवाले लंगूरों से उसकी एक नहीं चलती थी! भूतनाथ लंगूरों की टोली के पीछे भागता तो उनके दूसरे साथी दूसरी ओर से आकर राहुलजी के बगीचे को उजाड़ कर भाग जाते! राहुलजी की की-कराई मेहनत बेकार!

लिखने की रफ्तार

हम किसी भी लेखक की कोई अपनी लिखी हुई पुस्तक पढ़ते हैं, तो वहुधा यह जान ही नहीं पाते कि इस पुस्तक को लिखने में कितनी हैरानी-परेशानी हुई होगी। राहुलजी ने जितनी भी पुस्तकें लिखी हैं, उनमें एक भी ऐसी नहीं थी कि जिसके लिखने में उन्हें काफी परिश्रम न करना पड़ा हो।

वहुत अधिक लिखते रहने के कारण अव राहुलजी के अक्षर सुपाठ्य नहीं रह गये थे, इसलिए वे अव टाइ-पिस्ट को वोल-वोलकर लिखाने लगे थे।

तुम्हें याद होगा कि राहुलजी जव रूस से लौटे थे तो "मध्य-एशिया का इतिहास" लिखने के लिए वहुत सारी ग्रन्थ-सामग्री साथ ले आये थे। अव उस सामग्री का उपयोग करना था।

राहुलजी ने अपने मसूरी निवास के चार ही महीनों में लगभग दो हजार पृष्ठ वोलकर लिखवाये और "मध्य-एशिया का इतिहास" महान ग्रन्थ तैयार हो गया। वाद में यह ग्रन्थ दो वड़े खंडों में प्रकाशित

हुआ और इसी पर राहुलजी को "साहित्य अकादमी" का पुरस्कार भी मिला।

तुम सोचते होगे कि दो हजार पृष्ठों का इतना बड़ा ग्रन्थ चार महीनों में राहुलजी ने कैसा लिखा।

चार महीने तो केवल मशीन की गति से बोलकर लिखाने में लगे। किन्तु इस ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने में उन्हें वर्षों का समय लगा। इस ग्रन्थ की सामग्री के लिए उन्हें अरबी, फारसी, रूसी, जर्मन, फेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओं के सैकड़ों ग्रन्थों को छानना पड़ा। तभी जाकर यह ग्रन्थ तैयार हो पाया।

इस तरह का ग्रन्थ पहले किसी भारतीय भाषा में तो था ही नही, अंग्रेजी में भी नहीं था। इसलिये बाद में राहुलजी के इस "मध्य-एशिया का इतिहास" का अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद हुआ। राहुलजी के कृतित्व के लिए यह गौरव की बात तो है ही, राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए भी कम गौरव की बात नहीं।

राहुलजी को हिमालय से बेहद प्यार था। क्यों न हो ? हिमालय का चप्पा-चप्पा उनका देखा हुआ था। वे हिमालय का परिचय लिखना चाहते थे।

"हिमालय-परिचय" योजना के अन्तर्गत ही राहुलजी ने "दार्जिलिंग-परिचय", "गढ़वाल", "कुमाऊं", "जौनसार-देहरादून", "हिमाचल-प्रदेश" आदि ग्रंथों की रचना की।

जया-जेता

यह १९५३ का साल था। राहुलजी की आयु का उनसठवाँ साल।

यदि कार्य की दृष्टि से देखा जाय तो राहुलजी ने इतने ही वर्षों में इतना कार्य कर डाला था, जितना कोई दूसरा एक से अधिक जन्मों में भी नहीं कर सकता।

राहुलजी को अब नेपाल पर एक ग्रंथ लिखना था। १९५३ के जनवरी महीने में उन्होंने फिर नेपाल राज्य की यात्रा की। नेपाल से लौटकर उन्होंने "नेपाल" नाम से एक बड़ा ग्रंथ लिखा।

इसी साल उन्होंने "मार्क्स", "स्तालिन", "लेनिन" तथा "माओ-त्से-तुंग" जीवनी-ग्रंथ भी लिखे।

९ अप्रैल १९५३ को राहुलजी पूरे साठ वर्ष के हो गये। हमारी हिन्दी की पुरानी कहावत है— "साठा सो पाठा"। इसका मतलब यही मालूम होता है कि आदमी के साठ वर्ष पूरे होने पर ही वह हर दृष्टि से पूर्ण होता है।

सितम्बर १९५३ में राहुलजी और कमलाजी को पुत्री का लाभ हुआ, और ३१ जनवरी १९५५ को

पिता के साथ जया-जेता का अंतिम चित्र

पुत्र का। माता-पिता ने लड़की को "जया" और लड़के को "जेता" का नाम दिया।

अब तो जया-जेता काफी बड़े हो गये हैं। जया १४ साल की होने जा रही है और जेता १२ पूरे कर चुका है।

सरहपा 'निराला'

एक बार राहुलजी प्रयाग आये तो महाकवि निराला से मिलने गये।

राहुलजी निराला को बहुत मानते थे। निराला को उन्होंने हिन्दी के आदि सिद्ध-कवि 'सरहपा' की उपाधि दी थी।

सरहपा का नाम तुमने शायद न सुना हो। सरहपा आठवीं शताब्दी के कवि थे। सरहपा ने जिस भाषा में रचना की वह हिन्दी का आरंभिक रूप है।

इतना ही नहीं। राहुलजी ने तिब्बती ताल-पोथी के आधार पर सरहपा के दोहों का बड़े परिश्रम से संपादन भी किया है, जो "दोहाकोश" के नाम से प्रकाशित हुए।

राहुलजी ने निरालाजी को ठीक ही "सरहपा" कहा था। दोनों ही हिन्दी के महाकवि थे। एक आदि-काल का तो, दूसरा आधुनिक काल का। दोनों के विचार ही नहीं, आचरण भी अनेक सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध खुले विद्रोह की घोषणा करते रहे।

चीन में क्या देखा ?

तुम जानते ही हो कि राहुलजी ने तिब्बत की चार बार यात्रा की है। वे अपनी कठिन यात्राओं में अमूल्य ग्रन्थ सामग्री लाये थे और उनमें से कुछ ग्रन्थों का संपादन भी किया था।

राहुलजी अपने इस कार्य के कारण संसार के विद्वत्जगत में तिब्बती-साहित्य के चोटी के विद्वान के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

तिब्बत अब चीनी गणराज्य का एक हिस्सा था। चीन के विद्वान जानते थे कि तिब्बती-साहित्य के अनुशीलन के लिए भारतीय पंडित राहुल सांकृत्यायन एक योग्य व्यक्ति हैं। दोनों देशों के सम्बंध भी अच्छे थे। चीनी शासन ने राहुलजी को चीन आने का निमंत्रण भेजा।

राजेन्द्र बाबू उस समय भारत के राष्ट्रपति थे राहुलजी की विद्वत्ता का हृदय से आदर करते थे। राष्ट्रपति के आदेश से राहुलजी को पासपोर्ट मिल गया।

१५ जून १९५८ को राहुलजी कलकत्ता से हवाई जहाज द्वारा पेकिंग के लिए रवाना हुए। भारत छोड़ने के पहले वे अपनी पत्नी तथा बच्चों की व्यवस्था करके गये थे।

राहुलजी यही सोचकर चीन गये थे कि उन्हें काफी दिन चीन में रहना पड़ेगा और उधर से ही फिर एक बार तिब्बत भी जाना होगा। लेकिन...

राहुल जी अब ६५ साल के हो गये थे। अनेक यात्राओं तथा अत्यधिक कार्य के कारण उनका शरीर अब पहले जैसा नहीं रह गया था। वे पेकिंग में गम्भीर रूप से बीमार पड़े। अब चीनी सरकार ने उनके लिए बढ़िया इलाज की व्यवस्था की, साथ ही भारत से उनकी पत्नी तथा दो छोटे बच्चों को भी चीन आने का निमंण भेजा। पांच साल की जया और तीन साल के जेता ने अपनी मां के साथ कलकत्ता से पेकिंग तक की हवाई जहाज की यात्रा की। पापा जब थोड़े स्वस्थ हो गये तो जया और जेता ने अपने माता-पिता के साथ चीन के अनेक शहरों को देखा।

चीन में केवल साढ़े चार महीने ही रहकर राहुल जी सपरिवार भारत लौट आये।

चीन से लौटकर राहुलजी ने दो पुस्तकें लिखीं— "चीन में क्या देखा" और "चीन में कम्यून"।

फिर श्रीलंका में

चीन जाने से पहले राहुलजी ने अपना मसूरी का मकान बेच डाला था। अब पुनः एक मकान खरीदने की चिंता थी।

राहुलजी अब तक सौ से भी अधिक ग्रन्थ लिख चुके थे। उनके दर्जनों ग्रन्थों के एक से अधिक संस्करण भी हो चुके थे। उनकी किताबें छापकर और बेचकर प्रकाशकों ने अपने "महल" सजाये थे।

किन्तु राहुलजी के पास अब इतना भी रुपया नहीं था कि वे अपने परिवार के लिए छोटा-सा "निवास" खरीद सकें।

अन्त में एक प्रकाशक उन्हें अग्रिम रुपया देने के लिए तैयार हो गया। कलकत्ता के एक मित्र से तीन हजार रुपये और उधार लेकर उन्होंने दार्जिलिंग में एक मकान खरीद लिया।

इसी बीच उन्हें लंका से निमंत्रण आया।

तुम तो जानते ही हो कि किसी समय लंका के

एक कालेज 'विद्यालंकार परिवेण' में राहुलजी संस्कृत के अध्यापक रह चुके थे। इसी विद्यालय में उन्होंने बौद्ध साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था और इसी विद्यालय ने उन्हें "त्रिपिटकाचार्य" की उपाधि प्रदान की थी।

१९५९ में यही विद्यालय एक विश्वविद्यालय बन गया। १९५९ के जून महीने में राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने ही विद्यालंकार विश्वविद्यालय का उद्‌घाटन किया था।

विश्वविद्यालय को इस समय योग्य महाचार्यों की आवश्यकता थी। वह अपने 'पण्डितुमा' राहुल सांकृत्ययान को कैसे भूल सकता था ? उसने राहुलजी को अपने दर्शन-विभाग के अध्यक्ष अर्थात् दर्शन महाचार्य के पद पर आसीन किया।

अपना कार्यभार संभालने के लिए राहुलजी सितम्बर १९५९ में केलानिया (लंका) पहुँचे।

पापा के पत्र

बात बहुत पहले की है। उस समय राहुलजी की आयु अभी कोई चालीस की होगी। उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा था :

"कभी-कभी मन काम करना नहीं चाहता है, तो उसे कहता हूँ, काम कर। आराम करने का समय पचास के बाद आता है। तब भी कभी-कभी मन काम से भागता है, तो कहता हूं, काम कर—प्रशंसा के लड्डू मिलेंगे। तब भी कभी-कभी मन कहना नहीं मानता तो उसे जबरदस्ती काम में जोत देता हूँ।"

अब तो राहुलजी, पचास ही नहीं, साठ भी पार कर चुके थे। आयु के साथ-साथ उनकी काम करने की रफ्तार भी बढ़ गई।

राहुलजी के साथ विद्यालंकार विश्वविद्यालय में मैं भी एक अध्यापक था। अब भी हूँ। हम दोनों का निवास एक ही भवन में था, इसलिए उनकी उन दिनों की दिनचर्या को मैं अच्छी तरह जानता हूँ।

राहुलजी अपने हर मिनट का उपयोग करते थे। वे कहा भी करते थे कि "मैं सेकिंडों का तो नहीं, मिनटों का हिसाब तो दे ही सकता हूं!"

वहां वे अपने विद्यार्थियों को संस्कृत में व्यख्यान देते थे। सिंहल विभाग के अध्यक्ष प्रज्ञाकीर्ति महास्थविर राहुलजी के अनुवादक बनकर बैठते। राहुलजी संस्कृत में बोलते जाते और उनके अनुवादक-पंडित सिंहल-भाषा में विद्यार्थियों को समझाते जाते।

राहुलजी को व्याख्यान की तैयारी करते कभी किसी ने नहीं देखा। वे बैठे-बैठे अपनी पुस्तक लिखते रहते। विश्वविद्यालय की घंटी बजती। वे उठकर चले जाते। लौटकर आते तो फिर कलम हाथ में ले लेते!

इस बार राहुलजी कुल मिलाकर लगभग दो साल ही लंका में रहे। लेकिन इतने समय में ही उन्होंने लगभग आधे दर्जन बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार किये। "तिब्बती-हिन्दी कोश" उन्होंने लंका में ही तैयार किया था। इसके अलावा उन्होंने "पालिकाव्य-धारा", "पालि साहित्य का इतिहास", "सिंहल के वीर पुरुष" आदि ग्रन्थ लिखे।

जया-जेता दार्जिलिंग में थे। उन्हें पापा की याद आती और पापा को जया-जेता की। जाड़ों में दो बार

जया-जेता अपनी मां के साथ पापा से मिलने लंका गये। पापा ने लंका की खूब सैर कराई।

गर्मियों में जब विश्वविद्यालय बंद होता तो पापा अपने प्यारे बच्चों से मिलने दो बार दार्जिलिंग आते। दार्जिलिंग में भी राहुलजी खाली नहीं बैठते। दो बार में दो पुस्तकें—"घुमक्कड़ जयवर्धन" और "कप्तान लाल"—लिख डालीं।

पापा को अपने बच्चों से अलग रहने में बड़ा दुःख था, किन्तु क्या करते। विश्वविद्यालय की जिम्मेदारी सिर पर थी। फिर भी वे लंका से जया-जेता को प्राय: रोज ही नियमित रूप से एक पत्र लिखते थे।

तुम सोचते होगे : जया-जेता तो उस समय छोटे थे। उन्हें "महापंडित पापा" क्या लिखते थे और जया-जेता उसे कैसे पढ़ते थे ?

बात यह है कि राहुलजी प्राय: रोज रात को सोने से पहले जया-जेता के लिए एक कहानी लिखते थे—इतनी सरल भाषा में कि छोटे-छोटे बच्चे भी समझ सकें।

तुम सोचते होगे : काश ! हमें भी ऐसी कहानियां सुनने को मिलतीं !

तुम्हें ये कहानियां सुनने को तो नहीं पढ़ने को जरूर मिलेंगी।

स्मृति लोप

शरीर के सामर्थ्य की भी एक सीमा होती है। एक न एक दिन वह थक ही जाता है।

देश-विदेश की अनेक यात्राओं के कारण, मधुमेह जैसी खतरनाक बीमारी और अत्यधिक बौद्धिक परिश्रम के कारण राहुलजी का शरीर ही नहीं अब मस्तिष्क भी थक गया था। लंका में ही उन्हें एक-दो बार अस्पताल में रहना पड़ा।

१९६१ के अगस्त में उन्होंने लंका से अन्तिम बार विदा ली। अब वे ६८ साल के हो चुके थे। वे अपने बच्चों के बीच दार्जिलिंग वापस आ गये।

दिसम्बर १९६१ में कलकत्ता में किशोरीदास बाजपेयी का अभिनंदन समारोह होने वाला था। इस समारोह में उपस्थित रहने के लिए राहुलजी से आग्रह किया गया। स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी राहुलजी मित्रों के आग्रह को न टाल सके।

मैं तुम्हें बता ही चुका हूँ कि राहुलजी प्रतिदिन

नियम से अपनी डायरी लिखते थे। ८ दिसम्बर १९६१ के दिन उन्होंने अपनी डायरी का अन्तिम पृष्ठ लिखा :

"आज पांच बजे सवेरे घर से जा रहे हैं। दोपहर तक विमान के अड्डे पर। डायरी लिखना छोड़ रहा हूँ।"

राहुलजी सपरिवार कलकत्ता पहुँचे। एक दिन जैसे-तैसे समारोह में भाग लिया। दूसरे दिन, अर्थात ११ दिसम्बर १९६१ को ही, पहली बार उन्हें कलकत्ते में "स्मृति-लोप" का आघात हुआ !

स्मृति-लोप, अर्थात् उनके दिमाग ने काम करना छोड़ दिया ! अब वे न तो अपने परिचितों को पहचान सकते थे, न कुछ पढ़ सकते थे, न लिख सकते थे।

राहुलजी का शेष जीवन अब उनके "रोग की करुण कहानी" मात्र ही तो है !

महाप्रयाण

राहुलजी के निकटस्थ व्यक्तियों ने, उनके मित्रों ने, उनके प्रशंसकों ने उन्हें रोग-मुक्त देखने के लिए अपनी ओर से कोई कसर नहीं उठा रखी।

अपने देश में कलकत्ता तथा दार्जिलिंग में उनकी महंगी से महंगी चिकित्सा की व्यवस्था की गई।

कुछ मित्रों को आशा थी कि रूस में राहुलजी का उचित इलाज होगा। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रयास से राहुलजी को रूस ले जाने की व्यवस्था हो गयी। साथ में उनकी पत्नी कमलाजी भी गयीं।

रूस की सरकार ने राहुलजी के इलाज के लिए कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी।

राहुलजी जब मास्को के अस्पताल में थे तो इगोर अपनी मां के साथ दो बार अपने पिता से मिलने आये।

राहुलजी मास्को के अस्पताल में कुल सात महीने रहे। रूस की बढ़िया चिकित्सा भी उन्हें स्वस्थ करने में असमर्थ थी। रूसी डाक्टरों का कहना था कि किसी समय उनके सिर पर गहरी चोट लगी होगी।

तुम्हें याद ही होगा कि अमावरी सत्याग्रह के समय जमींदार के कुरबान नाम के एक हाथीवान ने राहुलजी के सिर पर लाठी का प्रहार किया था।

मास्को से विमान द्वारा राहुलजी को दिल्ली होते हुए दार्जिलिंग लाया गया। २३ मार्च १९६३ को वे दार्जिलिंग अपने घर पहुँचे।

जया और जेता को उन्होंने अपने सीने से लगाया।

९ अप्रैल १९६३ को राहुलजी ७० वर्ष के हुए।

उसी दिन शाम को उन्हें बेहोशी आ गयी। उन्हें तुरन्त दार्जिलिंग के एडन-अस्पताल में ले जाया गया। पांच दिन अस्पताल में बेहोश रहे।

१४ अप्रैल को दिन के ११.३० बजे यह महान-यात्री हिमालय की गोद में ही चिर-निद्रा में सो गया।

दूसरे दिन सात साल के पुत्र जेता ने महापंडित पिता के पार्थिव शरीर को अग्नि दी।

जिस स्थान पर उनका दाहसंस्कार हुआ, उसी के पास श्रीमती कमला ने अपने पति की स्मृति में एक "राहुल-चैत्य" बनवाया है।

तुम जब कभी दार्जिलिंग जाओ, तो वहां जरूर-जाना। उस समाधि पर अपनी श्रद्धा के सुमन जरूर चढ़ाकर आना।
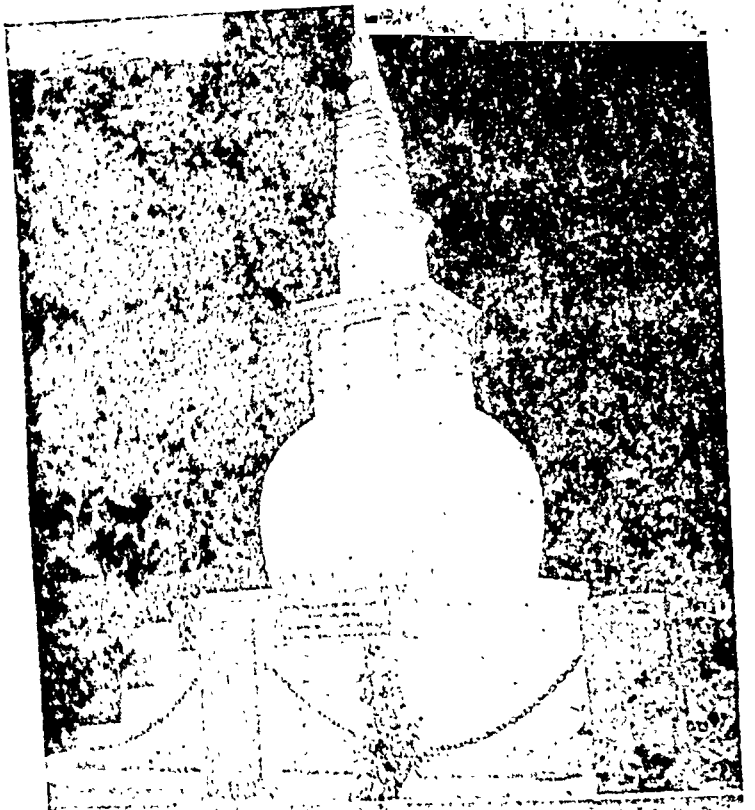
दार्जिलिंग में महापंडित का स्मारक

कहानी का अन्त....

इस पुस्तक के आरम्भ में प्रयाग के डा. वी. एन. प्रसाद के घर तुमने जिस 'अतिथि वौद्ध-साधु' के दर्शन किये हैं वे कौन थे, इसे तो तुम अब जान ही गये।

और, शायद उन्हें भी जो दूसरे साधु उनसे मिलने गये थे।

उस समय वच्चों को कहानियां सुनाने के लिए सचमुच ही सोचना पड़ता था; और आज यह 'कहानी' लिखते समय भी मुझे काफी सोचना पड़ा।

मुझे यही सोचना पड़ा कि मैं तुम्हें कौन सी वात सुनाऊं, कौन सी न सुनाऊं? लगभग तीस वर्षों तक राहुलजी का और मेरा निकट का सम्वंध रहा; और फिर, वे स्वयं इतना सारा हमारे-तुम्हारे लिए लिख गये हैं कि मुझे वार-वार यही सोचना पड़ा कि आज पहली वार तुम्हें "महापंडित" के वारे में क्या वताऊं?

राहुलजी ने वहुत पढ़ा, वहुत लिखा—यह तो तुम जान ही चुके हो। उन्होंने कुल मिलाकर लगभग १५० ग्रन्थ लिखे। उन्होंने दर्शन, विज्ञान, राजनीति, धर्म,

उपन्यास, कोश आदि कई विषयों पर अमूल्य ग्रन्थ लिखकर राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा की है।

तुम्हारे मन में भी शायद राहुलजी की तरह "घुमक्कड़" बनने की लालसा हो। तो तुम्हारी इसी लालसा को प्रोत्साहन देने के लिए और घुमक्कड़ी के तरीके बताने के लिए राहुलजी ने एक पुस्तक लिखी है : "घुमक्कड़ शास्त्र"।

तुमने पढ़ा कि राहुलजी पहले हिन्दू साधु रहे, फिर आर्यसमाजी और बाद में बौद्ध। तुमने यह भी देखा कि आरम्भिक दिनों में उन्होंने "गांधीजी की की आंधी" का साथ दिया, किन्तु जब उन्होंने देखा कि कांग्रेस सरकार किसानों-मजदूरों की मददगार नहीं है, जमींदारों और सेठ-साहूकारों की मददगार है तो किसानों-मजदूरों का साथ दिया।

भारतीय जनता से, भारतीय विद्वत्जगत से राहुल को बहुत प्यार मिला, बहुत सम्मान मिला। भारत के बाहर विदेशी विद्वान भी राहुलजी के पांडित्य की प्रशंसा करते थे। लंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय ने तो अन्त में अपने "भारतीय पंडित" को "साहित्य चक्रवर्ती" की उपाधि से विभूषित किया।

राहुलजी जब अपने अंतिम दिनों में "स्मृति-लोप"

की अवस्था में थे, तो भारत सरकार को भी थोड़ी-सी अक्ल आई। उसने महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन को "पद्म-भूषण" का उपाधि-पत्र भेज दिया। इन्हीं दिनों भागलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें "डी. लिट्." की उपाधि से सम्मानित किया।

मैं तुम्हें बता ही चुका हूं कि राहुलजी को अपने जीवन में, अपनी यात्राओं में, जो सुख-सुविधाएं मिलीं उन्हें वे 'भगवान' की कृपा नहीं, बल्कि 'समाज की कृपा' ही समझते थे। राहुलजी ने इसीलिए एक और पुस्तक भी लिखी : "जिनका मैं कृतज्ञ हूँ"।

तिथियां

जन्म : ९ अप्रैल १८९३। ननिहाल-ग्राम पन्दहा में, आजमगढ़ जिला। गोत्र : सांकृत्य; पिता : गोवर्धन पांडे; माता : कुलवन्ती देवी। नाना : रामशरण पाठक।
बचपन का नाम केदारनाथ, चार भाई तथा एक बहन में सबसे ज्येष्ठ।

शिक्षा : आजमगढ़ में मिडिल तक। आगरा में अरबी-फारसी की पढ़ाई और लाहौर तथा काशी में संस्कृत की।

१९१२–१३ : परसा-मठ के साधु तथा उत्तराधिकारी।

१९१३–१४ : दक्षिण का तीर्थाटन।

१९२२ : बक्सर जेल में छह मास। जिला कांग्रेस के मंत्री।

१९२३–२५ : हजारीबाग जेल में।

१९२७–२८ : लंका में संस्कृत के अध्यापक तथा बौद्ध-साहित्य का अध्ययन।

१९२९–३० : 'तिब्बत में सवा साल'—पहली यात्रा।

१९३२–३३ : इंगलैण्ड और यूरोप में।

१९३४ : दूसरी तिब्बत-यात्रा।

१९३५ : जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत-भूमि तथा ईरान की यात्रा।

१९३६ : तीसरी तिब्बत-यात्रा।

१९३७ : सोवियत-भूमि में दूसरी बार।

१९३८ : तिब्बत में चौथी बार। इगोर राहुलोविच का जन्म।

१९३९ : किसान संघर्ष : अमावरी-सत्याग्रह। जेल में।

१९४०–४२ : हजारीबाग जेल में ।
१९४३ : चौंतीस साल बाद जन्मग्राम में । उत्तरा-खंड की यात्रा
१९४४–४७ : लेनिनग्राद (सोवियत-भूमि) में प्राध्यापक ।
१९४७ : हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति ।
१९५० : मसूरी में अपना घर ।
१९५३ : पुत्री जया का जन्म ।
१९५५ : पुत्र जेता का जन्म ।
१९५८ : चीन में साढ़े चार मास ।
१९५९–६१ : लंका में दर्शनशास्त्र के महाचार्य ।
१९६१ : दिसम्बर महीने में "स्मृति-लोप" का आघात ।
१९६२–६३ : सोवियत-भूमि में सात महीने चिकित्सा ।
मृत्यु : १४ अप्रैल १९६३ ।

साम्यवाद का मूल्य

तुम को याद होगा कि बम्बई हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समय भाषा के सवाल को लेकर मतभेद होने के कारण राहुलजी कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हो गये। लेकिन तब भी कम्युनिस्ट पार्टी ही राहुलजी की अपनी पार्टी थी। उन्होंने इतने वर्षों में न कभी उसके विरुद्ध एक शब्द बोला, न लिखा।

१९५५ की ५ फरवरी को उन्होंने पुनः कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनने की इच्छा प्रकट की। पार्टी के मंत्री अजय घोष ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उस दिन के बारे में राहुलजी ने स्वयं लिखा है :

"मुझे उस दिन बड़ी प्रसन्नता हुई।...मैं ख्याल करता था कि पार्टी मेम्बर न रहते ही कहीं मुझे महा-प्रयाण न करना पड़े। ...अब मैं जीवन भर के लिए पार्टी का मेम्बर हुआ।"

लेकिन राहुलजी जैसे महापंडित को भी अपने राज-नीतिक विचारों की कई बार काफी भारी कीमत चुकानी पड़ी है।

तुम शायद जानते होगे कि सरकारी पैसे से काशी नगरी प्रचारिणी सभा की ओर से एक हिन्दी विश्वकोश तैयार हो रहा है। जब इस विश्वकोश की योजना बनी तो इसके लिए एक प्रधान-संपादक की जरूरत थी। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के रहते दूसरे आदमी पर नजर नहीं जाती थी।

बहुत से विद्वान चाहते थे कि राहुलजी ही "हिन्दी-विश्वकोश" के संपादक हों। लेकिन...

लेकिन कांग्रेसी सरकार के किसी मंत्री ने कह ही तो दिया : "वे तो कम्युनिस्ट हैं...!"

कम्युनिस्ट होना, सबके लिए समान अधिकारों और समान सुविधाओं का समर्थन करना, जैसे कोई अपराध हो!

राहुलजी "हिन्दी विश्वकोश" के प्रधान संपादक नहीं बन सके। उन्हें अपने कम्युनिस्ट होने का मूल्य चुकाना पड़ा।

चीन में क्या देखा ?

तुम जानते ही हो कि राहुलजी ने तिब्बत की चार बार यात्रा की है। वे अपनी कठिन यात्राओं में अमूल्य ग्रन्थ सामग्री लाये थे और उनमें से कुछ ग्रन्थों का संपादन भी किया था।

राहुलजी अपने इस कार्य के कारण संसार के विद्वत्जगत में तिब्बती-साहित्य के चोटी के विद्वान के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

तिब्बत अब चीनी गणराज्य का एक हिस्सा था। चीन के विद्वान जानते थे कि तिब्बती-साहित्य के अनुशीलन के लिए भारतीय पंडित राहुल सांकृत्यायन एक योग्य व्यक्ति हैं। दोनों देशों के सम्बंध भी अच्छे थे। चीनी शासन ने राहुलजी को चीन आने का निमंत्रण भेजा।

राजेन्द्र बाबू उस समय भारत के राष्ट्रपति थे राहुलजी की विद्वत्ता का हृदय से आदर करते थे। राष्ट्रपति के आदेश से राहुलजी को पासपोर्ट मिल गया।

१५ जून १९५८ को राहुलजी कलकत्ता से हवाई जहाज द्वारा पेकिंग के लिए रवाना हुए। भारत छोड़ने के पहले वे अपनी पत्नी तथा बच्चों की व्यवस्था करके गये थे।

राहुलजी यही सोचकर चीन गये थे कि उन्हें काफी दिन चीन में रहना पड़ेगा और उधर से ही फिर एक बार तिब्बत भी जाना होगा। लेकिन...

राहुल जी अब ६५ साल के हो गये थे। अनेक यात्राओं तथा अत्यधिक कार्य के कारण उनका शरीर अब पहले जैसा नहीं रह गया था। वे पेकिंग में गम्भीर रूप से बीमार पड़े। अब चीनी सरकार ने उनके लिए बढ़िया इलाज की व्यवस्था की, साथ ही भारत से उनकी पत्नी तथा दो छोटे बच्चों को भी चीन आने का निमंत्रण भेजा। पांच साल की जया और तीन साल के जेता ने अपनी मां के साथ कलकत्ता से पेकिंग तक की हवाई जहाज की यात्रा की। पापा जब थोड़े स्वस्थ हो गये तो जया और जेता ने अपने माता-पिता के साथ चीन के अनेक शहरों को देखा।

चीन में केवल साढ़े चार महीने ही रहकर राहुल जी सपरिवार भारत लौट आये।

चीन से लौटकर राहुलजी ने दो पुस्तकें लिखीं— "चीन में क्या देखा" और "चीन में कम्यून"।